समकालीन हिन्दी नाटकों में मिथक और यथार्थ

(SAMAKALEEN HINDI NATAKOM MEIN MITHAK AUR YATHARTH)

Thesis
Submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

श्रीकला वी.आर.

SREEKALA V. R.

Supervising Teacher

Prof. Dr. R. SASIDHARN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 002

2009

Certificate

This is to certify that the thesis entitled as **"SAMAKALEEN HINDI NATAKOM MEIN MITHAK AUR YATHARTH" (MYTH AND REALITY IN THE CONTEMPORARY HINDI DRAMA)** is a bonafied record of work carried out by **SREEKALA V. R.** under my supervision for the award of the degree of doctor of philosophy and that no part of this has hitherto been submitted for a degree in any other university.

Department of Hindi
Cochin University of Science & Technology
Kochi - 682 022

Prof. Dr. R. Sasidharan
Supervising Teacher

Date: 12-2009

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of Prof. Dr. R. Sasidharan, Department of Hindi, Cochin University of Science & Technology, Kochi - 682 022, and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any university.

SREEKALA V. R.

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 002

Date : 12-2009

पुरोवाक्

पुरोवाक्

साहित्य समाज को आगे बढ़ने केलिए प्रेरणा देनेवाला सशक्त माध्यम है । समाज के नीति-धर्म की मर्यादाओं की रक्षा आज साहित्य के जिम्मेदारियों में एक है । साहित्य में संवेदना के विविध स्तर होते हैं जिनमें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रमुख हाथ होता है । साहित्य की मूल संवेदना में युग-बोध का ग्रहण है । साहित्यकार इस युग बोध को संवेदना के स्तर पर ग्रहण करते हुए उसे अपने ढ़ंग से अभिव्यक्ति प्रदान करता है । वह जीवन-मूल्यों और उसके विकास को अपनी अभिव्यक्ति द्वारा पोषित करता रहता है । जनचेतना और जनवादी विचारधारा आधुनिक युग की अहम विशेषता है । जनचेतना आज व्यापक रूप से जागृत हो रही है । साहित्य जनता के निकट आने में सफल सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से नाटक भी परिवर्तित जीवन मूल्यों एवं नयी संवेदना की सृष्टि करने में अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहा है ।

नाटक को साहित्यिक विधाओं में श्रेष्ठ माना जाता है । नाटक में वास्तविकता का अनुकरण होता है । नाटक का यह दृश्यत्व ही इसे श्रेष्ठ बनाता है । पात्रों की क्रियाशील सजीवता नाटक को सार्थक बनाती है । हिन्दी के समकालीन नाटककारों ने मिथकीय सन्दर्भों एवं पात्रों के माध्यम से समकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने की कोशिश की है । मिथक आदि मानव द्वारा प्रकृति के चमत्कारिक कार्यों की अनुभूति का कल्पनामय सृजन है जो समाज के निरन्तर विकास के साथ-साथ क्रमशः विकसित होकर मानव चेतना को आकृष्ट कर लेते हैं ।

अतीत के कथा-सन्दर्भों को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास ही मिथकीय नाटकों में नाटककारों ने किया है । इस दृष्टि से हमारी परंपरा के अनेक मिथक आधुनिक संवेदना के माध्यम के रूप में हिन्दी नाटकों में प्रतिष्ठित हुए हैं । समकालीन हिन्दी नाटकों में मिथक और यथार्थ की अभिव्यक्ति को विवेचित एवं विश्लेषित करने का छोटा सा

प्रयत्न है यह शोध प्रबंध । मेरे शोध प्रबंध का विषय है "**समकालीन हिन्दी नाटकों में मिथक और यथार्थ**"। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है ।

पहला अध्याय है "मिथक और यथार्थः स्वरूप एवं विश्लेषण"। इस अध्याय में मिथक का अर्थ स्पष्ट करते हुए पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की मिथक संबन्धी परिभाषाओं को विश्लेषित किया गया है । मिथक के उद्‌भव और विकास की चर्चा भी इस अध्याय में की गयी है । इसके साथ मिथक के विभिन्न तत्वों के बारे में भी विस्तृत रूप से परखने का प्रयास किया गया है ।

दूसरा अध्याय है "हिन्दी नाटक में मिथक और यथार्थ : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण"। हिन्दी नाटक में भारतेन्दु युग से ही अतीतकालीन गौरव को नाटक की विषय वस्तु बनायी गयी है । भारतेन्दु युग से लेकर प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग एवं समकालीन नाटककारों ने सामाजिक परिस्थितियों के प्रति जनता को सजग एवं सचेत करने केलिए भारत के गौरवमय अतीत के ऐतिहासिक, पौराणिक मिथकों को लेकर अनेक नाटकों की रचना की है । इस अध्याय में प्रारंभ से लेकर समकालीन युग तक के मिथकीय नाटकों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

तीसरा अध्याय है - "समकालीन मिथकीय नाटक और सामाजिक यथार्थ।" समाज एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ मनुष्य का अस्तित्व निर्विवाद रूप से है । समाज हर पल बदलता रहता है । साहित्य इन बदलती हुई परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करनेवाला सशक्त माध्यम है । आज पूरे विश्व संकट और तनाव के असाधारण समय से गुज़र रहा है । मानव और उसके सम्बन्धों में दरारें पड रही हैं । व्यक्ति, परिवार, स्त्री जीवन सब कुछ कई अन्तर्द्वन्द्वों से पीडित है । सामाजिक जीवन के विभिन्न आयाम को पकडने की कोशिश लक्ष्मीनारायण लाल के 'यक्ष-प्रश्न' एवं 'मिस्टर अभिमन्यु', सुरेन्द्र वर्मा के 'आठवाँ सर्ग' एवं 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य' एवं 'कोमल गांधार', प्रभाकर श्रोत्रिय का 'इला', भीष्म साहनी का 'माधवी', रमेश बक्षी का 'देवयानी का कहना है' आदि नाटकों द्वारा

हुआ है । प्रस्तुत अध्याय में समकालीन नाटकों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

चैथा अध्याय है "समकालीन मिथकीय नाटकः राजनीतिक परिदृश्य"। इस अध्याय में समकालीन मिथकीय नाटकों में प्रस्तुत राजनीतिक यथार्थ को परखा गया है ।

पाँचवाँ अध्याय है - "समकालीन मिथकीय नाटकः सांस्कृतिक सन्दर्भ।" इस अध्याय में समकालीन मिथकीय नाटकों में अभिव्यक्त सांस्कृतिक यथार्थ को सांस्कृतिक संकट, सर्जनात्मक चेतना, राज्याश्रय की समस्या, अभिव्यक्ति की आज़ादी, शील अश्लील की समस्या आदि बिन्दुओं को रेखांकित करने का प्रयास हुआ है ।

अंत में इस अध्ययन से निकले निष्कर्ष को 'उपसंहार' के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोधप्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डॉ. आर शशिधरन के निर्देशन में संपन्न हुआ है । उनके बहुमूल्य सुझावों तथा प्रेरणा वर्धक निर्देशन से ही यह अध्ययन पूर्ण हो गया है । उनके प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. एन. मोहनन जी ने डॉक्टरल कमिटि के विषय विशेषज्ञ के रूप में मेरी बडी मदद की है । इनकी प्रेरणा प्रोत्साहन और संरक्षण के प्रति मैं सदैव शुक्रगुज़ार हूँ । हिन्दी विभाग के सभी गुरुजनों की सलाह एवं सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ ।

मेरा प्रिय मित्र एवं भाई अनु और रचना के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ । विभाग के मेरे प्रिय मित्रों को भी मैं इधर याद करती हूँ । उनके स्नेह, प्रोत्साहन एवं सुझाव के लिए मैं उन लोगों से विशेष आभारी हूँ । प्रीती, अनिता, प्रीता, जुलिया, टीना, सौम्या, दिव्या, सजिता, षीना, श्रीजा, मेर्ली, राजगोपाल, राजन, प्रदीप, संजीव और मेरे छात्रवास की जिषा, निम्मी, विद्या,

रम्या, जिषा वि.के. और अन्य सभी मित्रों के प्रति मैं अपना प्यार प्रकट करती हूँ ।

हिन्दी विभाग के पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री पद्म कुमार जी और उनके सहयोगी श्री. बालकृष्णन और एरणाकुलम पब्लिक लाईब्रेरी के कर्मचारियों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ ।

हर कदम पर प्रार्थना और प्रोत्साहन के द्वारा मेरा साथ देनेवाले माँ-बाप, मेरे भाई, बहन और भाभी के प्रति भी मैं सर्वथा कृतज्ञ हूँ ।

पुनः एकबार उन सभी महानुभावों, मित्रों, सहृदयों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ, जिनके प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग ने मेरे कर्मपथ को सुगम बनाया है । अंत में सर्वोपरि मैं उस सर्वेश्वर के प्रति आभारी हूँ, जिनकी कृपा से यह काम पूरा हुआ है।

सविनय

श्रीकला वी.आर.

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय 1-37

मिथक और यथार्थः स्वरूप एवं विश्लेषण

प्रस्तावना - मिथक - अर्थ : परिभाषाएँ, भारतीय दृष्टि, पाश्चात्य दृष्टि - पाश्चात्य दृष्टिकोण - भारतीय दृष्टिकोण - मिथकः उत्पत्ति एवं स्रोत - मिथः प्रयोग की दिशाएँ - मिथक के तत्व - कथात्मकता - प्रतीकात्मकता - धार्मिकता - कल्पनाशीलता - सामूहिकता - शाश्वत वर्तमानता - मिथक और लोककथाएँ - मिथक और इतिहास - मिथक और संस्कृति - मिथक और मनोविज्ञान - मिथक और यथार्थ - साहित्य में मिथक और यथार्थ - निष्कर्ष

दूसरा अध्याय 38-80

हिन्दी नाटक में मिथक और यथार्थ : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

पूर्व स्वतंत्रकालीन नाटकों में मिथक और यथार्थ- प्रसाद युगीन नाटकों में मिथ और यथार्थ - प्रसादोत्तर नाटकों में मिथक और यथार्थ - स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में मिथक और यथार्थ - जगदीश चन्द्र माथुर और उनकी नाट्य रचनाएँ - धर्मवीर भारत और उनका अन्धायुग - मोहन राकेश और उनके नाटक - लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी नाट्य -रचनाएँ - समकालीन हिन्दी नाटकों में मिथक और यथार्थ - लाल के समकालीन नाटक में मिथक और यथार्थ - सुरेन्द्र वर्मा के मिथकीय नाटक - भीष्म साहनी के मिथकीय नाट्य रचनाएँ - मणिमधुर की नाट्य रचनाएँ - शंकर शेष और उनकी नाट्य रचनाएँ - रमेश बक्षी और उनका देवयानी का कहना है - दयाप्रकाश सिन्ही की 'कथा एक कंस की - गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' - नरेन्द्र मोहन की नाट्य रचनाएँ - नन्द किशोर आचार्य की नाट्य रचनाएँ प्रताप सहगल का 'अन्वेषक' - रेवती शरण शर्मा का 'राजा बली की नयी कथा' - दूधनाथ सिंह का यमगाथा - डॉ. सरजुप्रसाद मिश्र का 'नारद मोह' - सुदर्शन मंजीठिया का 'राजा नंगा है' - निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

तीसरा अध्याय 81-117

समकालीन मिथकीय नाटक और सामाजिक यथार्थ

प्रस्तावना - भारत का समकालीन सामाजिक परिवेश - समकालीन समाज में व्यक्ति - परिवार - पारिवारिक संबन्ध एवं पारिवारिक विघटन - मूल्य विघटन - स्त्री-पुरुष संबन्ध - नैतिकता - नारी जीवन और नारी अस्मिता - निष्कर्ष।

चौथा अध्याय 118-157

समकालीन मिथकीय नाटकः राजनीतिक परिदृश्य

प्रस्तावना - समकालीन भारत का राजनीतिक परिवेश - राजनीति के विभिन्न आयाम - शासन-सत्ता - जनतंत्र, चुनाव और नेता - आपातकालीन तानाशाही - नेतागिरी - भ्रष्टाचार - धर्म और राजनीति की गठजोड - शिक्षा का क्षेत्र और भ्रष्टाचार - युद्ध की विभीषिका - निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय 158-188

समकालीन मिथकीय नाटकः सांस्कृतिक संदर्भ

प्रस्तावना - भारत का समकालीन सांस्कृतिक परिवेश - सांस्कृतिक संकट - सर्जनात्मक चेतना - राज्याश्रय की समस्या - लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता - साहित्य में शील-अश्लील - निष्कर्ष

उपसंहार 189-196

संदर्भ ग्रन्थ-सूची 197-210

पहला अध्याय

मिथक और यथार्थः स्वरूप एवं विश्लेषण

प्रस्तावना

मानवीय सभ्यता का पूरा इतिहास मिथकों में संग्रहीत है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अंतर्गत व्याख्यायित और विवेचित करके अनेक विद्वानों ने मिथक की सार्थकता को असंदिग्ध बनाया है। प्रत्येग युग का मिथक अपने युग का वास्तविक परिचय प्रस्तुत करता है। मानवीय स्भ्यता के विकास के प्रत्येक क्षण के साथ सहयात्रा करने के कारण प्रत्येक युगीन यथार्थ को आत्मसात करने में मिथक सफल सिद्ध हुआ है। आधुनिक युग तक इसकी अभिव्यक्ति-क्षमता बरकरार है। पहले, मिथक की चर्चा पौराणिक एवं अलौकिक कथाओं के अंतर्गत होती थी। लेकिन आज मिथक सामाजिक एवं मानवीय यथार्थ के साथ घुल-मिल गया है। याने पौराणिक मिथकों की नयी ढ़ंग से व्याख्या हो रही है। नये-नये मिथकों का गढ़न भी हो रहा है। मिथकों में हमारे जीवन के सच और सभी विचार और भावनायें अंतर्निहित हैं। मानवीय भावनाओं की सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति करने के कारण मिथकों के प्रति लोगों की आस्था अधिक रहती है। लोंगों की भावात्मक और रागात्मक संबन्ध मिथक के साथ सदैव है।

मिथक में वर्णित अलौकिक कथा एवं घटनाओं को केवल कल्पना के अंतर्गत व्याख्या करना इसे अस्तित्वविहीन बना देने के समान है। कथात्मकता, धर्मिकता और अलौकिकता के ढ़ाँचे से अलग यह जातीय जीवन के अनुभवों पर टिका हुआ एक व्यापक एवं लोकस्वीकृत सत्य है। मिथक तो मानव के अन्दर और बाहर की भौतिक शक्तियों का प्रतीकात्मक रूप है। प्रकृति और मानव के मानसिक अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व प्रत्येक मिथक करता है। सभी पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं में यह सच दृष्टिगोचर होता है। प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों की छवि मिथकों के ज़रिए उद्‌घाटित होती है। इसकी अंर्तवस्तु में इतनी शक्ति होती है कि समाज के अतीत, वर्तमान और भविष्य आलोकित हो जाता है। इसकी अभिव्यक्ति बिम्बों, प्रतीकों,

भाव, धर्म आदि कई रुपों में होती हैं। इन सभी माध्यमों का अंतिम लक्ष्य सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होने के कारण साहित्य मिथक का समानधर्मी है। अभिव्यक्ति की मूल वृत्ति दोनों में एक समान है। मिथक की भावात्मकता, कल्पनात्मकता, प्रतीकात्मकता आदि तत्व साहित्य के आधारभूत तत्वों में ही आते हैं। अतः मिथक और साहित्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण साहित्य में मिथकीय प्रयोग सार्थक सिद्ध हुआ है।

मिथक- अर्थः परिभाषाएँ, भारतीय दृष्टि, पाशचात्य दृष्टि

मिथक शब्द अंग्रेजी के **'myth'** शब्द का हिन्दी प्रतिशब्द है। **'myth'**शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'माइथोस' शब्द से निस्रृत है, जिसका अर्थ है मुख से उच्चरित वाणी। **'myth'** शब्द का अर्थ काल्पनिकता एवं अविश्वसनीय कथाओं से समझा जाता रहा है। आगे चलकर इसे देवताओं की कथा कही जाने लगी। आधुनिक युग में यह गहरी अर्थ व्यंजनाओं से भरा-पूरा रहता है। "जब से मनुष्य ने कुछ कलात्मक शब्द अथवा कथा कहना शुरू किया तब से मिथक द्वारा सामाजिक यथार्थ के नये- नये प्रतीकात्मक या सांकेतिक रूप व्यक्त हो रहे हैं। मिथक का अर्थ उस कथ्य में निहित है, जो मनुष्य व्यक्त करना चाहता है। जिस भाषा में व्यक्त करना चाहता है वह भले अवैज्ञानिक अथवा सतह पर झूठी लगे, किंतु उसका कथ्य सच्चाई से भरा होता है। मिथक को मनुष्य के एतिहासिक अस्तित्व का सामाजिक कथ्य मानना चाहिए।"[1] मिथक की दृष्टि शाश्वत है। यही इसकी सबसे बडी विशेषता है।

हिन्दी में मिथक के लिए 'पुराकथा', 'पुरावृत्त', 'कल्पकथा', 'धर्मगाथा', 'पुराणकथा', 'पुनराख्यान' आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **'मिथ'** के साथ 'क' प्रत्यय जोड़कर 'मिथक' शब्द का प्रयोग किया। द्विवेदी ने मिथक को अलौकिक और लौकिक तत्वों से मिश्रित अर्थ प्रदान किया है। डॉ सत्येन्द्र ने अपने लोक साहित्य

---

1. शंभुनाथ- मिथक और आधुनिक कविता, पृ.सं 14

संबन्धी ग्रंथ में इसके लिए 'धर्मगाथा'[1] कहा है। डॉ कैलाश नाथ वाजपेयी ने मिथक की अर्थ संबन्धी व्याख्या इस प्रकार दी है - "मिथक संस्कृत का सिद्ध शब्द नहीं है। संस्कृत में इसके निकटवर्ती दो शब्द है। 'मिथस' या 'मिथः' जिसका अर्थ है 'परस्पर' और 'मिथ्या' जो असत्य का वाचक है। यदि मिथक का संबन्ध 'मिथस' से किया जाए तो इसका अर्थ हो सकता है सत्य और कल्पना का अभिन्न सम्बन्ध या एकात्म्य। 'मिथ्या' से संबन्ध जोड़ने पर मिथक का अर्थ 'कपोलकथा' बन सकता है। परन्तु वास्तव में 'मिथ' के पर्याय रूप में 'मिथक' शब्द के निर्माण में अर्थ -साम्य की अपेक्षा ध्वनी-साम्य की प्रेरणा ही अधिक रही है अर्थात समानार्थक की अपेक्षा यह समान ध्वन्यात्मक शब्द ही अधिक है।"[2]

विभिन्न अंग्रेजी कोशों में मिथक शब्द को अनेक प्रकार से व्याख्यायित और विवेचित किया गया है। सभी कोशों में इसके अर्थ की व्याख्या लगभग एक जैसा ही हुई है। Oxford English Dictionary के अनुसार -

"a purely fictious narrative usually involving supernatural persons, actions, or events and embodying some popular idea concerning natural or historical phenomena"[3]

Websters Dictionary के अनुसार -

"A traditional story of unknown authorship ostensibly with a historical basis, but serving usually to explain some phenomenon of nature the origin of man or the customs, institutions, religious rights etc. of people myths usually involve the exploits of gods and heroes"[4]

---

1. डॉ सत्यन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ.सं. 39
2. डॉ कैलाशनाथ वाजपेयि - आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ.सं. 82
3. The Oxford English Dictionary - William Little, H.W. Flower, coulson, pg.962
4. Websters New World Dictionary of American Language, pg.590

अंग्रेजी में 'myth' शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिए करता था। ग्रीक शब्द 'माइथोस' का अर्थ कालान्तर में यह हुआ था कि 'जिसको कोई अस्तित्व नहीं होता'। आधुनिक योरोपीय आर्य भाषाओं में इसका अर्थ 'जो सत्य के विपरीत हो' था। कुछ विद्वानों ने संस्कृत के 'मिथस' (परस्परता का वाचक) या 'मिथ्या' आदि के साथ जोडकर मिथक शब्द की व्याख्या करने की कोशिश की है। इससे मिथक को सिर्फ कोरी कल्पना या मिथ्या धारणाओं से संपृक्त कर देता है। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दियों में इसे प्रस्तुत अर्थ में व्याख्यायित करता हुआ दिखाई देता है- "सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवादी युग में मिथ को इस प्रकार कपोल कल्पना तथा वैज्ञानिक और एतिहासिक दृष्टि से असत्य का पूरक माना गया था।"[1] आधुनिक विचारधारा में इसे यथार्थ के धरातल पर व्याख्या करके सत्य के समकक्षी माना है। इसकी कई अर्थ संभावनाएँ है। मिथक संबन्धी कई व्याख्याएँ आज उपलब्ध हैं। सभी व्याख्याओं में मिथक में छिपे यथार्थ बोध को हम देख सकते हैं। डॉ एल बी राम अनंत का विचार है- "दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान तथा साहित्य के भी मिथक पर गंभीरता से विचार होने लगा। कारण यह था कि प्रत्येक देश में मिथकों का प्रचलन था और उनसे मनुष्य इतने प्रभावित थे कि उनका उपयोग आर्थिक-राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ती के लिए हो सकता था। मार्क्सवाद तथा पूँजीवाद या व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों ने अपने अपने मंतव्यों को दृष्टि में रखकर इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया। मार्क्सवादी विचारकों ने मिथक को आर्थिक उत्पादन वितरण से उद्भूत होनेवाली सामाजिक स्थिति का प्रतिफलन बताया तथा व्यक्तिवादी विचारकों ने इसे शुद्ध मानसी उपज सिद्ध करना चाहा।"[2] मिथक शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'मिथ' से मानी है एवं 'मिथ' का अर्थ लिया है 'रहसि' (जिससे रहस्य बनता है) अर्थात् एकान्त निर्जनता और इसी एकाकी निर्जनता में मिथुन का प्रदुर्भाव स्वीकार किया है। इसी सन्दर्भ में डॉ. माधुरी पाणडेय का मंतव्य है- "मिथक एक सतत प्रवाहमान, जीवन्त गतिशील प्रक्रिया है इसलिए उसकी कोई दो टूक परिभाषा नहीं की जा

1.रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं.240

2. एल बी राम अनंत, रचनात्मक साहित्य और मिथक(लेख) गगनांचल

सकती है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर इसे सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्ति कहा गया है और **मार्क्सवादी** व्याख्या के अन्तर्गत इसे श्रम का एक रूप बतलाया गया है। कतिपय विद्वान मिथक **को धर्म और** संस्कृति से जोडने के पक्षपाती हैं। प्रत्येक दृष्टि का अपना महत्व है।"[1]

आज मिथक ने मानव एवं समाज के सत्य का वाहक बनकर साहित्य में अपना अस्तित्व **दृढ़** किया है। यह आज सार्वकालिक होता जा रहा है। मिथक आज हमारे संपूर्ण जीवन पद्धति को **प्रभावित** कर रहा है- "ये एक प्रकार का आदिम युग से आज तक की संस्कृति और वैचारिक **सोच** का प्रामाणिक दस्तावेज है, जो एक प्रकार से मानव इतिहास की समाजवादी दृष्टि प्रस्तुत करता है।"[2]

पाशचात्य दृष्टिकोण

पश्चिम में ही मिथकीय व्याख्या का शुभारंभ हुआ था। पश्चिम में सन् 1825 में मुल्लर ने सबसे पहले मिथक का अध्ययन किया लेकिन इसके पूर्व ग्रीक विद्वानों ने मिथक पर विचार करना शुरू किया। कुछ लोग मिथक को आदिम जातियों से जोड़ते है। पश्चिम के विचारक **मिथक संबन्धी** अवधारणा को ठोस आधार नहीं दे पाये। मिथक को एक प्रकार की तर्क और **व्यावहारिकता** के विरुद्ध की धारणा में संकुचित कर दिया था। ग्रीक दार्शनिकों ने इसे सत्य के **विरुद्ध** और राज्य के विरुद्ध घोषित कर दिया था- "ग्रीक दार्शनिक यह मानते थे कि मिथकों की **रचना** कवि करते हैं और इनमें आदिमरूपों की प्रतिष्ठा होती है जो नैतिक दृष्टि से राज्य या देश के **हित** के अनुकूल होते।"[3]

---

1. **माधुरी पाण्डेय - अज्ञेय** के काव्य में मिथकीय संचेतना, पृ.सं.24
2. **डॉ. उषापरी विद्यावाचस्पति** - मिथक उद्भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य, पृ.सं.1
3. **एल बी राम अनंत,** रचनात्मक साहित्य और मिथक(लेख) गगनांचल

उन्नीसवीं शती में आते-आते मिथक पर गंभीरता पूर्वक चर्चायें शुरू हुई। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक मैक्समुल्लर ने मिथक संबन्धी मत रखा कि मिथक भाषा विकार की देन है। लेकिन एन्ड्रू लैंग जैसे विचारकों ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि भाषा-विकृति के आधार पर मिथक के उत्भव को समझाया नहीं जा सकता। उन्होंने इसे मानव के विशेष मनोदशा से उत्पन्न चीज मान था। ऐसी विशेष मनोदशा में मानव, जड, चेतन सभी में चेतना का आरोप करते है और इस गतिविधि से अस्तित्व में आ जाता है। जेम्स जार्ज फ्रेजर, जे हरिसन तथा गिलबर्ट मुरे आदि पश्चिमी विद्वानों ने मिथक पर गहरा अध्ययन किया और उन्होंने अपने अध्ययनों से यह ज्ञात किया कि धर्म-कृत्य तथा जादू की भावना ही मिथक के मूल में है। पाश्चात्य चिन्तकों ने मिथक के धार्मिक और अलौकिक शक्ति संबन्धी कथावृत्तों को ही अधिक प्रमुखता दी। लेकिन आगे चलकर इसके मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक पक्ष के प्रतीकात्मक रूपों को अधिक प्रधानता दी जाने लगी। विको जैसे प्रमुख वैज्ञानिक ने मिथक को सत्य के निकटवर्ती माना और अनेक विद्वानों ने विको की प्रमुख धारणा के समानान्तर भाषा विज्ञान, नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि के अंर्तगत मिथक की व्याख्या करके काल्पनिकता से बाहर निकालकर विशिष्ट मूल्यों की खोज की।

फ्रेजर जैसे विचारकों ने मिथक को आदिम मानव के विचारों से जोडा था। लेविस स्पेन्स जैसे विद्वानों ने मिथक की उत्पत्ति आदिम मानव के प्रकृति संबन्धी समस्याओं के समाधान हेतु माना। रैने वेलेक ने मिथक के सामाजिक, प्राकृतिक एवं धार्मिक आस्था संबन्धित पक्ष को अधिक महत्व दिया। इसके बाद मिथक व्यावहारिक पक्ष की ओर अधिक उन्मुख हो गयी। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सी.जे युंग और फ्रायड ने मिथक को व्यक्ति, समाज व परंपरा से सम्बन्धित मानते हुए मानव के अचेतन और सामूहिक अचेतन का विषय स्वीकार किया। आगे युगीन परिस्थितियों में बदलाव हुआ इसके साथ मिथक में भी युगानुरूप परिष्कार हुआ।

भारतीय दृष्टिकोण

भारत में मिथक सम्बन्धी अवधारणा मूलतः वेदों और उपनिषदों के आधार पर किया गया है क्योंकि पूरा वैदिक साहित्य मिथकों से भरा पडा है। भारतीय संस्कृति का सूक्ष्म रूप वैदिक साहित्य में देखा जा सकता है। संस्कृति के मूल बिन्दुओं को इसमें खोजा जा सकता है। वैदिक साहित्य में वर्णित देव मिथक में संस्कृति या प्रकृति के तत्वों का समावेश हुआ है। प्राकृतिक घटनाओं में दिव्यशक्ति का आरोप करते हुए इन्द्र, वरुण, सूर्य, विष्णु आदि मिथकों का वर्णन वैदिक साहित्य से उपलब्ध होते है "वैदिक साहित्य में मिथक के जो सूत्र उपलब्ध होते है वे वैदिक ऋचाओं की कालांतर में हुई व्याख्याओं के रूप में पर्याप्त विकसित हुए ओर सूक्त, संवाद, गाथा, देवकथा, पवित्राख्यान आदि को पार करते हुए पुराण वाड़मय में अपनी सम्पूर्ण मिथकीय शक्ति के साथ उपलब्ध होते हैं।"[1]

भारतीय विद्वानों ने मिथक के मूल बिंब पर अधिक बल दिया और इसमें प्राकृतिक एवं जीवन के यथार्थ को ढूँढ़ने की सलाह दी। यहीं नहीं, मिथकों का मूल संबन्ध प्रकृति से स्थापित किया गया। क्योंकि संपूर्ण जीवन का अस्तित्व केवल प्रकृति पर ही निर्भर है। मिथकीय चिन्तन के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धि पाश्चात्य चिन्तन धाराओं से अनुप्राणित है। भारत में मिथक संबन्धी अंतरअनुशासनात्मक पठन नहीं हुआ है। यद्यपि भारतीय वाड़मय मिथकों से भरा पडा है। वेदों से लेकर संस्कृत के काव्य-महाकाव्य, नाटक तथा आख्यायिका आदि में और पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य में मिथक बिखरी पड़ी है। भारतीय चिन्तन में प्रायः मिथक विषयक धारणा पुराण, पुराख्यान, धर्मगाथा, देवकथा, लोकाख्यान, कवि समय प्रख्यात कथानक आदि के विवेचन में पुराकाल से ही उपलब्ध है। भारतीय मिथकों का संसार मूलतः इन कथा रूपों में निहित है।'पुराण' भारतीय साहित्य में मिथक का प्रतिशब्द है। सृष्टि, उत्पत्ति और विकास के पूरा

---

1. नीलम राठी - साठोत्तर हिन्दी नाटक, पृ.सं.3

इतिहास इसमें संचित है। यहीं नहीं, शाश्वत प्रशनों व रहस्यों का उत्घाटन करते हुए संपूर्ण जीवन की व्याख्या पुराणों की मूल चेतना है। भूत, वर्तमान और भविष्य के दर्शन को आत्मसात करते हुए यह सार्वकालिक संवेदना का वाहक बन कर लोक भूमि पर स्थित है - "पुराणों में स्थापित मूल्य व्यवस्था ने भारतीय जनजीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। इसलिए चमत्कारपूर्ण घटना-धर्मिता को छोड दें, तो पुराण न केवल धार्मिक, बल्कि राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन के मुख्य आधार रहे है और इन्होंने जातीय मिथकों का विकास किया है।"[1]

भारतीय वाड़मय में पुराण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है कि 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तरणि च' जिस ग्रन्थ में सर्ग अर्थात सृष्टि का आरंभ प्रतिसर्ग अर्थात पुनः सृष्टि का विकास एवं विलय, वंश अर्थात सृष्टि के आदिम काल की वंशावली, मन्वन्तर अर्थात् सभी मनुओं के आधिपत्यकाल की घटनाओं तथा वंशानुचारित याने इतिहास के प्रमुख राजवंशों का वर्णन हो उसे पुराण कहते है। विश्व के प्रत्येक मिथक में इन लक्षणों से युक्त मिथकों की चर्चा की गयी है। सृष्टि, उत्पत्ति धारणाएँ मूलतः जलप्लावन संबन्धी मिथक से ली गयी है। विश्व के सभी मिथकों में प्रस्तुत तथ्य को लेकर समानता होने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके मूल में संसार की आरंभिक सांस्कृतिक एकता के तत्व खोजे जा सकते हैं। पुराणों में भारतीय जीवन का सत्य निहित है। प्राकृतिक मिथकों में सूर्य और अग्नि का महत्वपूर्ण स्थान है। सूर्य को आदिकाल में देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अग्नि को भी वेदकाल में आराधना भरी दृष्टि से देखा गया है। विश्व भर के मिथकों में अग्नि का मिथक देखा जा सकता है। ग्रीक पुराण में प्रमथ्यू की अवधारणा अग्नि के संबन्ध में किया गया है। ऋगवेद में भी अग्नि से संबन्धित कई मिथक है। इसी तरह वृक्ष में भी यह देवत्व आरोपित हुआ है। "भारत में वृक्ष को चेतन रूप में मान्यता प्राप्त है। इस प्रकार भारतीय वाड़मय में प्राकृतिक मिथकों का क्षेत्र बहुत विशाल है। भारतीय परंपरा में सूर्य को श्रेष्ठ मिथक तथा चन्द्रमा एवं नक्षत्रों को उनके सहायक के रूप में

---

1. डॉ. शंभुनाथ - मिथक और आधुनिक कविता, पृ.सं.126

स्वीकार किया गया है। आर्यों ने सूर्य को प्राणदायिनी शक्ति तथा ब्रह्म के रूप में भी स्वीकार किया। गायत्री मंत्र इन्हीं के लिए प्रचलित है। जल तथा मानव में सूर्य की शक्ति समान रूप से वितरित है। सूर्याकर्षण से सृष्टि का उदय और अस्त होता है। नारायण के अर्थ में भी सूर्य की प्रतिष्ठा है।"[1]

आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल के भारतीय साहित्य मिथकों की शक्ति से समृद्ध है। आधुनिक युग में मिथक को युगद्रष्टा और मानव को मिथकों के मूलाधार मानकर देखा गया है। आधुनिक चिन्तकों एवं आलोचकों में महत्वपूर्ण डॉ.नगेन्द्र के मत में- "मिथक मूलतः आदिम मानव के समष्टि मन की सृष्टि है जिसमें चेतना की अपेक्षा अचेतन प्रकिया का प्राधान्य रहता है ।"[2] डॉ.रमेश गौतम के मत में - "मिथक मनुष्य के आदिम मस्तिष्क की सृजनशील शक्तियों का मूल्यवान सांस्कृतिक उपहार है।"[3] डॉ.वीरेन्द्र सिंह की व्याख्या है- "मिथक एक जटिल सांस्कृतिक सत्य है, जो मानव प्रकृति और विश्व के पवित्र इतिहास को अनेक प्रकार से रेखांकित और विवेचित करता है ।"[4] डॉ.मालती सिंह ने अपनी मिथक संबन्धी पुस्तक में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है- "मिथक आदि मानव द्वारा गढ़ी गई दैविक शक्ति से संबन्धित कथाएँ है।"[5] इसी प्रकार आधुनिक सांस्कृतिक राजनैतिक जीवन के अनुसार मिथक को विविध आयामों से निष्कर्षित और निरूपित कर रहा है। आज के मिथकीय चिन्तन में मिथक कथा या इतिवृत्तों के रूप को पूर्णतः छोडा गया है। राम, कृष्ण, अभिमन्यु आदि युग पुरुष के रूप में वर्णित हो रहे हैं।

मिथकः उत्पत्ति एवं स्त्रोत

मनुष्य ने जब अपना पहला कदम इस गूढ़ संसार पर रखा तब संसार की सभी प्राकृतिक विभूतियों को उसने आश्चर्य की दृष्टि से देखा। सूर्य, चन्द्र, आकाश में बिखरे पडे तारे, जल, वायु

---

1. डॉ. माधुरी पाण्डेय - अज्ञेय के काव्य में मिथकीय संचेतना, पृ.सं.19
2. डॉ. नगन्द्र, मिथक और साहित्य पृ.23
3. डॉ. रमेश गोतम, मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.30
4. डॉ. वीरेन्द्र सिंह, मिथक दर्शन का विकास, पृ.3
5. डॉ. मालती सिंह, मिथक एक अनुशीलन, पृ.42

सभी को वह आश्चर्य, जिज्ञासा, आनन्द, भय आदि से भरी दृष्टि से देखने लगा। इन प्राकृतिक विभूतियों के साथ जब मानव का साक्षात्कार हुआ उन क्षणों में मानव ने अपने ढ़ंग से मिथक का सृजन किया था और इस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति ने ही बाद में मिथक का रूप ले लिया।

प्रागैतिहासिक युग में मानव के विवेक इस सत्य से साक्षात्कार किया था कि प्रकृति ही उनके अस्तित्व का एक मात्र आधार है। विश्व भर के आदिम मिथकों में प्रकृति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सूर्य, चन्द्र जैसे प्रकृति की विभूतियाँ लोक जीवन में नये-नये अर्थों को लेकर उभरने लगा। प्रकृति के कल्याणकारी एवं आतंक रूप को आराधना भरी दृष्टि से देखने लगा और उसमें देवत्व आरोपित किया। प्रकृति के इस चमत्कारिक प्रवृत्तियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया ही मिथक है। अपनी सौदर्यात्मक चेतना से इन प्राकृतिक शक्तियों को मिथक में रूपायित किया। इसलिए मिथक को आदिम भाषा एवं साहित्य की संज्ञा भी प्राप्त है। मानव और प्रकृति के एकात्म्य रूप को उदाहरण के रूप में मिथकों में देखा जा सकता है। प्रकृति और मानव के अन्तर्संबन्ध से उपजे रूपों को आज सार्वकालिक स्वीकृति प्राप्त हुई है। यह आज साहित्य एवं संस्कृति के धरोहर के रूप में सुरक्षित है।

मिथकों की उत्पत्ति एवं स्रोत के मूलाधार मानव मस्तिष्क को माना जा सकता है। मानव के बाह्य और आन्तरिक जगत मिथकों की उत्पत्ति का कारण बना। प्रत्येक मिथकीय कथाओं में मानव के क्रियाव्यापारों को वाणी मिली है। मानव मन में निहित ईर्ष्या, द्वेष आदि भावों की अभिव्यक्ति रुद्र, इंद्र, ब्रह्म आदि देवताओं में हुई है। वस्तुजगत के जरिए भावजगत का ही आरोप इन मिथकों में हुआ है। राम और रावण में मानव के सत्-असत् वृत्तियों को दर्शाया गया है। डॉ. मालती सिंह का कथन है - "मिथक मानव अनुभूती का विषय है। किन्तु अनुभूति के लिए प्रत्यक्षीकरण आवश्यक होता है, जो किसी प्रत्यक्ष विषय-वस्तु पर आधारित

होता है। अतः मिथ की उत्पत्ति के दो पक्ष है। प्रत्यक्षीकरण और अमूर्तीकरण। जब आदिम मानव बाह्य सत्यों का प्रत्यक्षीकरण करता है तब उसके आधार पर ही अमूर्तीकरण भी करता है। अमूर्तीकरण की इस मानववृत्ति ने ही विभिन्न मिथकों को जन्म दिया है। अतः मिथकों की उत्पत्ति के लिए बाह्य जगत तथा मानव का आन्तरिक जगत दोनों ही निर्माणात्मक उपादान का कार्य करते है।"[1]

मिथकों की उत्पत्ती में अनुष्ठानों का महत्वपूर्ण चर्चा हुआ है। अनुष्ठान से अनेक मिथकीय धारणाओं का निर्माण हुआ है। मिथक का विषय अनुष्ठानों की पूर्ववर्ती है और अनेक विद्वानों ने ऐसी धारणा को पुष्ट करने की कोशिश भी की है। अनुष्ठान का निर्माण कई मिथकीय घटनाओं और पात्रों से होते हुए माना जा सकता है क्योंकि मिथक और अनुष्ठान के बाहरी रूप में कई असमानताएँ हैं। मिथक का फलक व्यापक है जबकि अनुष्ठान में यह व्यापकता नहीं है। अनुष्ठान में कई रूढ़ तत्वों का समावेश हुआ है। इन जटिल तत्वों की व्याख्या के रूप में मिथकों का जन्म हुआ है- "सूर्य प्रकाश प्रदान करता है जिससे मानव को ऊष्मा एवं रोशनी प्राप्त होती है। सूर्य आदिमानव के लिए दैवी शक्ति का प्रतीक बना और वह अनुष्ठान आयोजित कर उसकी पूजा-अर्चना करने लगा। किंतु मानव जीवन में आई जटिलता के साथ अनुष्ठानात्मक क्रियाओं में भी जटिलता आ गई एवं उस जटिलता की व्याख्या का प्रयत्न ही कालांतर में अनेक मिथकों के निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ"[2]

ऐतिहासिक घटनाएँ भी मिथक की उत्पत्ति के कारण के रूप में देखी जा सकती हैं। जलप्लावन से संबन्धित मिथकों में प्राचीनकाल में घटित भीषण जलप्लावन को ही चित्रित किया गया है। वैवस्त मनु की कथा एवं नोह की कथाओं के मूल में यही सूत्र पाया जा सकता है। स्वर्ग का राजा इन्द्र को बरसात का देव भी बताया गया है। इसलिए स्वर्ग की परिकल्पना आकाश में किया गया है। ऐसे अनेक तत्व हैं जिन्हें मिथकों की उत्पत्ति के तत्वों के रूप में लिया जा सकता है।

---

1. डॉ. मालती सिंह, मिथक एक अनुशीलन, पृ.41
2. नीलम राठी - साठोत्तर हिन्दी नाटक, पृ.सं.11

मिथक प्रयोग की दिशाएँ

मिथक मानवीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों से अपना संबन्ध रखता है। उसने मानासिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपनी भूमिका व्यक्त की है। राजनीति में मिथक के प्रयोग की व्याख्या महाभारत के संदर्भ में की जा सकती है। राम, कृष्ण आदि को राजनीति के मूर्त भाव के रूप में देखा जा सकता है। कृष्ण का मिथक कौरव और पाण्डवों के बीच है जो अभी समकालीन समाज के लिए सबसे आवश्यक तत्व है। हिरण्यकशिपु, प्रहलाद, हनुमान आदि सभी मिथकों का प्रयोग राजनीति के क्षेत्र में सार्थक सिद्ध हुआ है। आधुनिक युग में राजनीति से संबन्धित सभी प्रसिद्ध व्यक्तित्व अब मिथक बनते जा रहें हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. माधुरी पाण्डेय का मंतव्य उल्लेखनीय है - "मिथकीय पात्रों के इर्द-गिर्द जिस प्रभामण्ल की अनिवार्यता की चर्चा की जाती है उस दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय तो ख्रुश्चेव और कोसीजिन, कैनडी तथा महात्मागाँधी, नेहरू, विनोबा भावे और जयप्रकाशनारायण आधुनिक युग के मिथकीय व्यक्ति कहे जायेंगे, रीगन और गार्बचोव ने भी मिथकीय गरिमा प्राप्त की है। इन्दिरा गाँधी ने भी भारतीय इतिहास को एक गति और दिशा दी थी।"[1] राजनीति के सन्दर्भ में डॉ. शंभुनाथ का यह मंतव्य भी उल्लेखनीय है - "आर्थिक विकास की पूँजीवादी योजनाएँ आज के सबसे बडे मिथक है। प्रशासन, शिक्षा और कानून मिथक बनते जा रहे हैं। व्यावसायिक संस्थाओं के विज्ञापन मिथकीय संकेतों से भरे पडे है। जीवन में खोखली-अमीरी के मिथक बढ़ते जा रहे हैं।"[2] राजनीति में मिथकीय प्रयोग की भूमिका बडी व्यापक हो रही है।

धर्म के क्षेत्र में मिथक का प्रयोग देवी देवताओं की संकल्पनाओं में हुआ है। संसार को नियन्त्रित करनेवाली केन्द्रीय शक्ति की संकल्पना समाज में व्यापक है। एकदैव का मिथकीय प्रयोग इसमें देखा जा सकता है। ईसाई और इस्लाम धर्म में यही संकल्पना हुई है। वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, पुराण के मिथक हिन्दु धर्म के आधार हैं। दैवी मिथक का विराटमय रूप को धर्म में प्रमुखता दी गयी है। मिथकीय कथाओं में प्रचलित होकर धर्म ने अपने स्वरूप की सृष्टि की है।

---

1. **माधुरी पाण्डेय**, अज्ञेय के काव्य में मिथकीय संचेतना, पृ.29-30
2. **डॉ.शंभुनाथ**, मिथक और आधुनिक कविता, पृ.15

चित्रकला में मिथकीय प्रयोग ने मानवीय मिथकीय संस्कार को एक रूप प्रदान किया है। चित्रकला एवं वास्तुकला में मिथकीय स्वरूपों को अंकित किया गया है। भारत के लगभग सभी मंदिरों में मिथकीय संस्कार वास्तुकला के रूप में देखा जा सकता है। "बुद्ध की प्रतिमाएँ वैराग्य, उदासीनता, हास्य एवं प्रभामय स्वरूप का अंकन है। जिन मुनि की प्रतिमा जैन धर्म की व्यापकता का, गोमतेश्वर की प्रतिमा अपनी विशालता, अजन्ता की गुफायें, पौराणिक चित्रकला, कोणार्क का सूर्य मंदिर प्रवृत्ति के पशचात निवृत्ति, लाक्षाग्रह, दुर्योधन की कूट बुद्धि का परिचय अपनी संदर्भगत मिथकीय कथाओं के साथ जीते जागते रूप प्रदान करते हैं।"[1]

विज्ञान में मिथक का प्रयोग कई मिथकीय घटनाओं में देखा जा सकता है, जैसे रामायण में लक्ष्मण का मूर्चित होने के बाद संजीवनी औषधी से वह ठीक हो जाता है। पुष्पक विमान की संकल्पना में विज्ञान के क्षेत्र में मिथकीय प्रयोग का उदाहरण है। मनु की पुत्री इला को स्त्री से पुरुष बनानेवाली क्रिया और गाँधारी को 101 संतानें होने की क्रिया इन सब में आधुनिक विज्ञान का सूत्र उपलब्ध है। संगीत में भी मिथकीय प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं को संगीत रूप में लिखा गया है। नृत्य के संगीत में ज्यादात्तर मिथक का ही प्रयोग किया है। भारतीय संकल्पना में शब्द की उत्पत्ति "ओंकार" से माना जाता है। 'ओंकार' को संसार का सबसे पहला शब्द माना जाता है।

मिथक के तत्व

मिथकों का निर्माण मानव उत्पत्ति के साथ ही हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं है। उत्पत्ति के समय से मानव की प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील होने लगी थीं। मिथक निर्माण का प्रमुख तत्व मानव मन की अनुभूतियाँ एवं बाह्य संसार है। मानव को अपनी अनुभूतियों की प्रत्यक्षीकरण

---

1. नीलम राठी - साठोत्तर हिन्दी नाटक, पृ.सं. 21

के लिए किसी उपादान या विषय वस्तु का आधार होना आवश्यक है। बाह्य तत्व में प्रकृति, अनुष्ठान, ऐतिहासिक घटनाएँ आदि आते हैं और आंतरिक तत्व में कल्पना, जिज्ञासा, भय तथा आनन्द आदि मानवीय वृत्तियाँ सहायक सिद्ध होती हैं। कथात्मकता, कल्पनाशीलता, धार्मिकता, प्रतीकात्मकता, सामूहिकता, शाश्वत वर्तमानता आदि मिथकों को जीवंत बनाये रखनेवाले तत्व हैं। मानव का आन्तरिक जगत मिथक निर्माण के तत्वों में सबसे प्रमुख है। उसके आन्तरिक जगत ने ही इन बाह्य तत्वों की सृष्टि की है।

कथात्मकता

कथात्मकता के बिना मिथक केवल वर्णन या प्रतीक मात्र है। कथात्मकता के आधार में प्रतीकात्मकता की सृष्टि करना मिथक का मूल व्यापार है। कथा इस प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। डॉ. शंभुनाथ का विचार है - "प्राचीन कवि अपनी कल्पना से जटिल रूपात्मक मिथकीय कथाओं की रचना करते थे। आधुनिक कवियों ने उन्हें प्रतीकात्मक और सांकेतात्मक स्तर दिया।"[1] अलौकिकता या अतिमानवीयता से युक्त कथाएँ जब सामाजिक यथार्थों से जुड जाती हैं तब इसके अलौकिक या अतिमानवीय रूप स्वतः गौण हो जाता है और केवल एक बाहरी ढ़ाँचे के रूप में रह जाता है। डॉ. नगेन्द्र का मंतव्य है - "इस कथा की घटनाए लोक-बाह्य, एक प्रकार से अलौकिक या अतिमानवीय होती है। किंतु मानव-जीवन के लिए उनकी अपनी विशेष सार्थकता अनिवार्यतः रहती है अर्थात् अलौकिक एवं अतिमानवीय होने पर भी मानव जीवन के लिए वे किसी प्रकार अप्रासंगिक नहीं होतीं। उदाहरण के लिए हनुमान द्वारा समुद्रलंघन की घटना अतिमानवीय है, परंतु स्वामी की प्राणरक्षा के लिए सेवक के इस उत्कट उत्साह का मानवीय महत्व सर्वथा स्पष्ट है।"[2] इन परंपरागत कथाओं में युगानुरूप परिवर्तन हमेशा होता रहता है। बदलते संदर्भों की पृष्ठभूमि में नये मूल्यों की अभिव्यक्ति इन कथाओं का मूल ध्येय है। श्रीराम, लक्ष्मण, कृष्ण, एकलव्य, द्रोणाचार्य आदि सभी मिथकीय पात्र अपने मिथकीय स्वरूप को छोडकर नए रूपों में अभिव्यक्त हो रहे हैं।

---

1. **डॉ. शंभुनाथ** - मिथक और आधुनिक कविता, पृ. सं.21
2. **डॉ. नगेन्द्र** - मिथक और साहित्य, पृ.सं.24

इन कथाओं में विषयों की अपेक्षा भावों को अधिक प्रदानता दी गयी है। मूल रूप में इन कथाओं में परंपरागत तत्व सामाजिक आर्थिक विकास के साथ विकासशील रहता है। इसलिए कथात्मकता मिथक का अनिवार्य और सर्वप्रमुख तत्व है। कथात्मकता के बिना मिथक में जीवन्तता नहीं है। मिथकीय कथाएँ प्राचीन होकर भी उसमें नवीन-भाव बोध का आरोप कर उनकी व्याख्या करनी चाहिए जैसे, महाभारत युद्ध को हम समसामयिक समाज की एक समस्या युद्ध के साथ संबन्ध स्थापित कर सकते हैं।

प्रतीकात्मकता

'प्रतीक' को मिथक की आत्मा कह सकते हैं। मिथक को परिभाषित करते हुए डॉ. दिनेश्वर प्रसाद का मंतव्य है कि प्रतीक का अर्थ वह वस्तु है, जो किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है और इस प्रकार उसकी स्थानापन्न और अवबोधक हो जाती है। आदिम मानव ने जब प्रकृति के चमत्कारों को वाणी देना चाहा तब प्रतीकों के माध्यम से मिथकों की सृष्टि की। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि आदिम मानव बाह्य प्रकृति की वस्तुओं को प्रतीकात्मक दृष्टि से देखते थे क्योंकि आदिम मानव के लिए भाषा दूर की वस्तु थी। सूर्य को केवल उदित-अस्त देखकर उनको संतोष नहीं होता था। उन्होंने इस प्रतिभास को किसी देवता या नायक के जीवन-यात्रा या नियति के रुप में वर्णन करके इसकी सत्ता को अपनी चेतना से संबन्धित किया। प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए चुना गया वह तत्व है जो अपेक्षतया स्थूल होता है। और कालांतर में भाषा की सामान्य शब्दावली की तरह बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाती है। मिथक का प्रतीक के साथ एक अन्तर्वत्ती और घनिष्ठ संबंन्ध है। काव्य में प्रयुक्त प्रतीक मिथक की शक्ति होते है। मिथक कथा का यथार्थ के स्तर पर अभिव्यक्त करनेवाले उपादान के रूप में प्रयोग होता है। मिथक प्रतीकों का एक समूह है तथा वास्तविकता को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए निर्मित प्रतीक

एक तारतम्य प्रदान करने वाला सशक्त माध्यम है।

मिथकीय कथाओं के पात्र प्रतीकात्मकता अपने में समाये हुए हैं। इस प्रतीकात्मकता में ही मिथकों की वास्तविक शक्ति निहित है। मिथककारों ने प्रतीकों को धार्मिक कथा के आवरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह शक्ति मिथकों को सार्वकालिक और सार्वभौमिक बना दिया है। जब किसी मिथकीय पात्र को लोगों के सामने प्रस्तुत करता है तो लोग उसकी प्रतीक शक्ति से ही प्रभावित होते हैं। डॉ.रमेश गौतम का विचार है - "प्रतीक मिथक की शक्ति को द्विगुणित करके उद्‌भासित करते हैं, वे मिथक को नित्य नवीन बनाए रखते हैं। क्योंकि प्रयोग के धरातल पर रचनाकार अपने युग और कथा के अनुरूप उनमें संशोधन करके मिथक में नवीन प्रतीकात्मकता का संधान करते हैं। इसी से मिथक सर्वयुगीन बने रहते हैं, युग सत्य के अनुरूप अपना रूप परिवर्तित करके सत्य से साक्षात्कार करते है।"[1] प्रतीकों की शक्ति का कई उदाहरण साहित्य में उपलब्ध हैं जैसे, 'अंधायुग' में धर्मवीर भारती ने मिथकीय चरित्र अश्वत्थामा को समकालीन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में हिंसा एवं बर्बरता के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। मानव के हिंसात्मक वृत्ति का जीवन्त प्रतीक है अश्वत्थामा। बदलते परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रतीकों का पुनसृजन करने में ही उसका अर्थ और सौन्दर्य है। याने नित नयी अभिव्यक्ति में ही प्रतीकों का अर्थ और सौंदर्य निहित है। डॉ. शंभुनाथ का विचार उल्लेखनीय है - "मिथक और प्रतीक का आन्तरिक सम्बन्ध निरन्तर विकसनशील है। प्रतीक और मिथक दोनों जातीय सांस्कृतिक चेतना की निर्मितियाँ हैं। सामायिक परिस्थितियों के अनुरोधवश मिथकों में निहित प्रतीक बदलते रहते हैं और भावधारा का विकास करते रहते हैं।"[2] मिथकों की यह प्रतीकात्मकता विश्व के सभी मिथकों में देखा जा सकता है। यूरोप में अपोलो विवेक और वीनस प्रेम का प्रतीक है। भारत में लक्ष्मी धन का प्रतीक है, दुर्गा शक्ति का प्रतीक है। राम मर्यादा का, कामदेव प्रेम का, हनुमान स्वामि भक्ती के, सरस्वती ज्ञान के प्रतीकृत रूप हैं। प्रतीक समूह मिथक को साकार रूप प्रदान कर यथार्थ की अभिव्यक्ति के सबल माध्यम के रूप में साहित्य में प्रयुक्त हो रहे हैं। प्रतीकों के बिना मिथकों का महत्व गौण है।

---

1. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं.75
2. डॉ. शंभुनाथ - मिखक और आधुनिक कविता, पृ.सं.83

धार्मिकता

मिथकीय तत्वों में धार्मिकता का स्थान महत्वपूर्ण है। मिथक को धार्मिक प्रतीक विद्या के स्वरूप के रूप में माना जाता है। क्योंकि मिथक के पात्र हमेशा दैवीय और अलौकिक होते हैं। इसलिए मिथक आसानी से जनमानस के धार्मिक भावना को प्रभावित करते हैं। दैवी पात्र मानवीय संवेदनाओं से भरे होने के कारण जन-मानस में रूढ़-मूल हो गये हैं। डॉ. नगेन्द्र के मत में - "इनमें एक विशेष प्रकार की कथाओं का प्रचलन है जिनको धार्मिक माना जाता है और जिनका संबन्ध कर्मकांड, नैतिक आचार और समाज-व्यवस्था के साथ होता है। इनका उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं है। लोग इन्हें आदिम बृहत्तर और अधिक सार्थक सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं जिससे कर्मकांड तथा नैतिक कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है और साथ ही उन्हें संपन्न करने के विधि-विधान का ज्ञान भी प्राप्त होता है।"[1] सभी जातियों के मिथक में धार्मिक भावना उपलब्ध होती है। जनमानस धार्मिक क्रियाओं के साथ अधिक संबन्ध रखते हैं। इन क्रियाओं में उनके विस्वास छिपे रहते है। धार्मिक विश्वास से संबन्धित होने के कारण मिथकों को लोकस्वीकृति हमेशा प्राप्त है- "वस्तुतः मिथक प्रचलित अर्थों में रूढ़ धार्मिक सिद्धान्तों के आख्यान हैं जिसमें किसी भी जाति की धार्मिक परम्पराएँ एवं प्रवृत्तियाँ सुरक्षित रहती हैं।"[2] मिथकों को धार्मिक विश्वासों के स्रोत के रूप में भी माना जा सकता है। लेकिन मिथकों को धार्मिक विश्वासों में रूढ़ करना संगत नहीं है। मिथक को केवल धर्म के सन्दर्भ में रखकर व्याख्या करना इसकी विकासशीलता को अवरुद्ध कर देने के समान है। धार्मिक ढ़ाँचे के अन्तर मिथक बहुत संकुचित हो जाता है।

प्रागैतिहासिक युग में समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए जिन नियमों का पालन किया गया कालान्तर में वे ही नियम धर्म में रूपायित हुए। धर्म की उत्पत्ति वर्गविहीन समाज को नियन्त्रित करने के लिए समाज द्वारा निर्धारित एवं स्वीकृत नियमों और कर्तव्यों से हुई, जिनका पालन करना धर्म बन गया। धर्म और अनुष्ठान मानवीय सभ्यता में महत्वपूर्ण उद्देश्यों को लेकर

1.डॉ. नगेन्द्र - मिथक और आधुनिक कविता, पृ.सं.10

2. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं.240

स्थापित हुए थे। भारतीय चिन्तनधारा में धर्म को कर्तव्य के साथ जोड दिया गया है और मानवकल्याण के लिए खडे रहना धर्म का प्रथम कर्त्तव्य है। भारत के प्रत्येक मिथकीय पात्रों में मानवीय कल्याण की यह भावना देखी जा सकती है। इससे यह तथ्य का उद्‌घाटन हो जाता है कि युगीन आकांक्षा और जीवन के संघर्ष ही मिथकीय रूपों का निर्धारण करते हैं। मिथक में धर्म केवल तत्व के रूप में ही आते है।

कल्पनाशीलता

कल्पनाशीलता से मिथक में उद्देश्य की संपूर्णता हो जाती है। आदिम मानव प्राकृतिक विभूतियों के प्रति अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कल्पना के द्वारा करता था। आकाश के परे की दुनिया के बारे में उनके मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उदित हो गयीं जैसे स्वर्ग लोक आकाश के परे है और वहाँ सारी भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं। पाताल के बारे में भी उनके मन में ऐसे कुछ विचार उदित हुए। प्रत्येक मिथकीय पात्रों में कल्पनाओं का आभास देखा जा सकता है। मानव मन की ये कल्पनाएँ मिथक को रूपायित करने में सहायक सिद्ध हुई - "आदिम मानव की कल्पनाशीलता को विभिन्न प्रकार की कथाओं के रूप में भी अभिव्यक्ति मिली होगी। यद्यपि इस तरह की कथायें अधिकतर वीर-नायकों से सम्बन्धित लोक कथाओं के रूप में इस युग में विद्यमान है पर इन लोक कथाओं का मिथकीकरण भी हुआ होगा -मिथक निर्माण की संभावनाओं का यह भी एक पहलू है।"[1] इन मिथकीय कल्पनाओं के अन्दर एक भावना रूपी शरीर है जिसे हम यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करते हुए देखते हैं। मिथक को साहित्य से संबन्धित करनेवाले तत्वों में प्रमुख है कल्पनाशीलता।

सामूहिकता

मिथक में सामूहिक सत्य का समावेश हुआ है। किसी भी समाज के मिथक में उस समाज की चेतना और अवचेतन सत्य समाहित है। सामूहिक सत्य के उत्खाटन के कारण ही समाज में मिथक का अस्तित्व है। मिथकों का गठन एक दिन में नहीं होता। युगों से चली आ रही

---

1. मालती सिंह, मिथक एक अनुशालन, पृ.45

सामूहिक चेतना को आत्मसात करते हुए मिथक अपना रूप गठित करता है। इसे लोक विश्वास एवं लोकपरंपरा के धरातल पर अधिक देखा जा सकता है। लोकचेतना का प्रतीक होने के कारण साहित्य में यह लोकचेतना को ही व्यंजित करता है। मिथक मनुष्य की सामूहिक आस्थाओं, विश्वासों एवं भावनाओं का ऐसा संयोजन है जो समयावधि के प्रवाह में शनैः शनैः रूप ग्रहण करता हुआ संपूर्ण जाति अथवा मानव समाज की चेतना को प्रभावित करता है।

शाश्वत वर्तमानता

मिथकों की सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है अतीत में वर्तमान की अभिव्यक्ति। मिथकों के अस्तित्व का कारण भी यही है। साहित्य में मिथक के प्रयोग का मुख्य कारण मिथकों की शाश्वत वर्तमानता है। युग-युगान्तर की यात्रा करने के कारण हर युग के सत्य को मिथक अपने अन्दर समाए हुए हैं। समकालीन समाज की ज्वलन्त समस्यायें मिथकों की मुख्य संवेदना हैं।

मिथक और लोककथाएँ

मिथक और लोककथाएं एक ही नियम से अनुशासित हैं। दोनों में परंपरा का अंश विद्यमान है दोनों की संरचना में भी बहुत समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों में लोकमानस का समावेश हुआ है। लेकिन लोककथाओं को कभी मिथक के संपूर्ण ढ़ाँचे में नहीं रखा जा सकता। मिथक का परिवेश बहुत व्यापक होता है जबकि लोककथा का परिवेश बहुत सीमित है। यह किसी स्थान विशेष की सीमा में बंधा हुआ है। लोककथा से सिर्फ उस स्थानविशेष के लोग ही परिचित होते हैं उदाहरण के लिए केरल के देशीयोत्सव 'ओणम' के पीछे महाबलि से संबन्धित जो कथा है उससे केरलवासी ही परिचित है केरल से बाहर उस कथा का उतना महत्व नहीं है जितना केरल में है - "लोककथा का संबन्ध किसी रीति-रिवाज से अधिक होता है। मिथक में धार्मिकता का पुट

अधिक है लेकिन लोककथा में यह जरूरी नहीं मिथक के अंतर्गत लोकप्रचलित विश्वासों का धार्मिकता की प्रवृत्ति के साथ स्वीकार किया गया है क्योंकि कतिपय विचारकों की दृष्टि में धार्मिक पृष्ठभूमि मिथकों के लिए अनिवार्य है। लेकिन लोककथाओं में ऐसा हो, यह आवश्यक नहीं।"[1] लोककथा के पात्र और घटित स्थान हमेशा अनिश्चित है जबकि मिथक में यह अनिश्चयात्मकता नहीं है। मिथक और लोककथाओं का मुख्य अन्तर यह है कि मिथक में कल्पना का अंश अधिक मात्रा में होता है। लेकिन अगर किसी लोककथा में युगीन परिस्थितियों का संधान करने की क्षमता है तो उसे मिथकों की श्रेणी में गिना सकता है। मिथकों के अंतर्गत लोककथाओं को समाविष्ट कर सकते हैं लेकिन लोक कथाओं में मिथक को समेट नहीं सकते। इस प्रकार मिथक और लोककथाओं में अनेक प्रकार की समानताएँ एवं विभिन्नताएँ हैं।

मिथक और इतिहास

मिथक तथा इतिहास में अनेक तत्व ऐसे आते हैं कि मिथक में हम अपना इतिहास ढूँढ़ सकते हैं। मिथकों में वर्णित प्राकृतिक घटनाओं को इस तथ्य की स्थापना के लिए देखा जा सकता है। मिथकों में वर्णित घटनाओं में इतिहास के तत्वों को खोजा जा सकता है। आदि मानव घटनाओं को भावात्मक दृष्टि से देखते थे। वस्तुओं और घटनाओं को भौतिक दृष्टि से देखने की क्षमता उनमें नहीं थी। सामाजिक संघर्षों की कथा एवं मानव के विकास के तत्व भी मिथकों में देख सकते हैं। मिथकों के पास इतिहास की तरह तथ्यों का आधार नहीं है। हर जाति अपने इतिहास को मिथकों में प्रकट करते थे। मिथक को इतिहास की संवेदना के रूप में देखी जा सकती है। इसमें इतिहास और प्राक् इतिहास की शक्तियाँ हमेशा गतिशील रही हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास को ढूँढ़ने के लिए वैदिक ग्रन्थों, महाभारत, रामायण आदि हमेशा सहायक रहे हैं। प्राक् इतिहास की चेतना इसमें देखा जा सकता है। उसमें वर्णित प्राकृतिक घटनाएं और युद्ध का वर्णन आदि इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। पुराण के अंतर्गत प्रमुख राजवंशों का वर्णन इतिहास का विधान ही है।

---

1. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं. 302

मिथक और इतिहास के संबन्ध में डॉ.मालती सिंह का विचार है- " इतिहास ने तत्कालीन मानव को भयभीत तथा आशचर्यचकित कर देने वाली अनेक आकस्मिक तथा प्राकृतिक घटनाओं का रूप धारण कर लिया होगा और ये घटनाएँ अनेक मिथकों के निर्माण की कारण बनी होंगी। उदाहरणार्थ बाइबिल में वर्णित नोह की कथा के अन्दर हिमयुग तथा हिम के पिघलने और उससे उत्पन्न बाढ़ की घटना के मूल में भी ऐतिहासिक तथ्यों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया गया है।"[1] इतिहास में युद्ध और शासकों के जीवन वृत्तान्त का वर्णन एवं विवरण है। इसी कारण इतिहास में एक प्रकार की संकुचित दृष्टि विद्यमान है। लेकिन मिथक में मानवीय संवेदनाओं को अधिक महत्व दिया गया है। इसलिए इतिहास की अपेक्षा मिथक में भावनाओं एवं आकांक्षाओं को प्रभावित करने की क्षमता है। मिथकीय पात्र मानव मन में गहरे पैठे हुए हैं। अनादिकाल से यह मानव जीवन को ऊर्जा प्रदान कर रहे हैं। एतिहासिक पात्रों की अपेक्षा मिथकीय पात्रों में यही विशेषता है। राम, कृष्ण, कर्ण, इन्द्र आदि मिथकीय पात्रों ने लोक जीवन की आस्था ओर मूल्यों को समृद्ध किया है। सांस्कृतिक इतिहास में ऐसे चरित नायकों को कथात्मक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिले है। डॉ. शंभुनाथ का मंतव्य है - "किसी जाति अथवा कुछ जातियों की सम्मिलित संस्कृति के इतिहास का सही विश्लेषण करने के लिए मिथकों के विकासशील कलात्मक संसार का संरचनात्मक अध्ययन ज़रूरी है। इस अध्ययन में इतिहास की तथ्यात्मक सामग्रियों के साथ मिथकों के साहित्यिक रूप का महत्व कम नहीं है। काफी बिखराव और विरूपीकरण के बावजूद मिथककथाओं में इतिहास की वस्तु छिपी रहती है। ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के विशलेषण के बहुत से आयाम मिथकों की देन है, खासकर सांस्कृतिक आयाम। इतिहास की छिपी वस्तु की खोज जरूरी इसलिए है कि मिथकों से कई विलुप्त युगों की पद्धति और संवेदनाओं को समझने में मदद मिलेगी।"[2]

---

1. मालती सिंह - मिथक एक अनुशीलन, पृ.सं. 51-52
2. डॉ. शंभुनाथ - मिथक और आधुनिक कविता, पृ.सं. 68

मिथक को इतिहास न मानने का एक कारण यह है कि मिथकों का स्रोत और प्रणेता अज्ञात है लेकिन केवल इसी वज़ह से मिथक में इतिहास के तत्व को नकारा नहीं जा सकता। मिथक में किसी भी युग के सांस्कृतिक द्वद्व एवं लोक चेतना का प्रवाह है याने मिथक समाजीकृत इतिहास के तत्व वहन करते हैं। मिथक को इतिहास से संबन्धित करते हुए मानने वालों में युनान के प्रसिद्ध विचारक इयुहेमेरस का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने ग्रीक मिथक शास्त्र का गहरा अध्ययन करने के उपरान्त यही बात स्थापित की कि युनानी मिथक पात्र एक ज़माने में मनुष्य ही थे। उनके चरित्र उस ज़माने में महत्वपूर्ण कार्यों एवं विचारों से समृद्ध थे। इसी वजह से ग्रीक मिथकों में देवत्व का आरोप हुआ। भारत में निरुक्तों में इतिहास तत्व का विचार मिलता है। प्राग्इतिहास की चेतना मिथक में अंतर्निहित होकर सामाजिक जीवन में घुल-मिल गयी है। जन जीवन में इतिहास की अपेक्षा प्राक्इतिहास की चेतना अधिक प्रभावी सिद्ध हुई है क्योंकि भारतीय मिथकों में गहरी प्रेरणा और विशवासों का आधार है। शंभुनाथ के शब्दों से ही मिथक और इतिहास के संबन्ध को निष्कर्षित कर सकता है - "इतिहास जिसके बारे में कोई परिचय नहीं देता,मिथक उसके बारे में बतलाता है। इतिहास मिथक में अनुभूति बनकर रहता है और अपनी कलात्मक संरचना अर्जित करके सदियों तक जनजीवन को अनुप्राणित करता रहता है। इतिहास की पोथियाँ लोकजीवन को प्रभावित नहीं कर पातीं। मिथक घटना के साथ बनता है। इतिहास घटना के बहुत बाद बनता है। मिथक इतिहास के बनने में मदद देता है और लंबे काल के बाद इतिहास भी मिथक बन जाता है।"[1]

मिथक और संस्कृति

मानव संस्कृति के गठन में मिथक ने अहम भूमिका निभाई है। संस्कृति का मूल संबन्ध मनुष्य के साथ है इसलिए मानव विकास के प्रत्येक चरण में संस्कृति समायी हुई है। मिथक में मानव संस्कृति के इस विकास को देखा जा सकता है। संस्कृति का स्वरूप बहुत व्यापक है।

---

1. शंभुनाथ- मिथक और आधुनिक कविता, पृ.37

मनुष्य ने अपने कर्मों, मन, वचन आदि के द्वारा समाज में एक व्यवस्था पैदा की है। यहाँ तक पहुँचने के लिए मनुष्य युग-युगान्तर से अपने मस्तिष्क का उपयोग करते आ रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृति की निर्माण प्रक्रिया एक लंबी प्रक्रिया है। इस सन्दर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र का विचार उललेखनीय है -"संस्कृति के स्थायी मूल्य वे हैं जिन्हें मनुष्य ने अपने लंबे सामाजिक जीवन में प्रकृति तथा परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अर्जित और समृद्ध किया है। इनकी स्थिति मनुष्य के इंद्रियबोध में उसके भावजगत में और उसके विचार जगत में देखी जा सकती है।"[1]

संस्कृति मनुष्य के अन्दर और बाह्य जगत में संतुलन स्थापित करते है- "संस्कृति मानव के दैनंदिन जीवन का अविभाज्य अंग है जो हमारे मस्तिष्क, गुण, व्यवहार, विकास, शिक्षा,सृजन तथा सौंदर्य में व्याप्त है। यहीं नहीं, संस्कृति हमारे धर्म, दर्शन, साधना, समाज-व्यवस्था तथा वैयक्तिक जीवन-नियमों को निर्धारित एवं नियमित करती है। हमारी कलाएँ, शिल्प, संगीत, साहित्य, नृत्य तथा अन्य सभी सौंदर्य रचनाएँ संस्कृति के अंतर्गत ही गिनी जाती हैं।" [2] मिथक में मानव की विकासयात्रा आसानी से खोजा जा सकता है। बाइबिल में नोह की कथा में जीवन के विकास की प्रतीकात्मक वर्णन हुआ है। हिन्दु पुराणों में मनु का उल्लेख इस तथ्य के अंतर्गत ही हुआ है। मनु को आदिम पुरुष कहा गया है। प्रत्येक युग का मिथक ऐतिहासिक द्वंद्ववाद की प्रक्रिया में मानवीय सृजन का ही अवशिष्ट चिह्न है। आज का विज्ञान मिथक के कथनों को खण्डित करके नया तर्क देता है। किंतु एक काल की सामाजिक हलचलों की पहचान कराने के कारण मिथकों को विज्ञान का ही पूर्व हिस्सा मानना चाहिए। वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी तो आविष्कार, खंडन - मंडन और विकास होता है।

धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य आदि संस्कृति के अभिन्न अंग एवं संस्कृति के वाहक भी है। धर्म की अवधारणा संस्कृति में विशेष महत्व रखती है। संस्कृति के अंतर्गत धर्म और मिथक का संबन्ध सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि में की गयी है। सामाजिक व्यवस्था के सुसंगत

1.डॉ. शिव कुमार मिश्र - साहित्य और संस्कृति, पृ.सं.17

2. मधुमति, परिपूर्णता का प्रवाह है संस्कृति की अजस्र धारा में(लेख) नवम्बर 2006 प्रेमचंद गोस्वामी

गठन के लिए यहाँ धर्म की स्थापना हुई थी। मानव कल्याण के अतिरिक्त मिथकों का कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है। सारे मिथक मानवता के कल्याण के लिए निर्मित हुए थे। इन मिथकों से इस तथ्य का उद्‌घाटन हो जाता है कि कैसे मानव अपने युगीन संघर्ष से उत्तरजीवि होकर समाज को आदर्श रूप प्रदान करने में सक्षम हुए थे - "मानव धर्म मानव की सामाजिक आवश्यकताओं से प्रस्फुटित होता है और मानव मात्र का कल्याण ही उसका लक्ष्य होता है। इस धर्म को किसी नाम की आवश्यकता नहीं है, केवल मानव के अस्तित्व की आवश्यकता है।"[1]

पुरातन युग में समाज को नियंत्रित करनेवाला कोई एक व्यक्ति या राजा नहीं था।छोटे-छोटे समुदायों में बँटे लोगों के लिए उस समय में कुछ नियमों की स्थापना हुई थी। इन नियमों के अनुसार समाज के हर काम संपन्न होते थे। समाज के हर एक व्यक्ति की क्षमताओं में अंतर स्वाभाविक रूप से देखा जा सकता है। सुविधा के लिए समाज का हर काम प्रत्येक की क्षमताओं के अनुसार प्रत्येक में सौंपा गया। अधिक क्षमता प्राप्त लोगों ने समाज में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की और दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझने लगा। श्रम से प्राप्त उपलब्धियों पर इन लोगों ने निजी स्वामीत्व भी हासिल की । धर्म की वर्गीय रूप यहीं से प्रारंभ हुआ था। कर्ण, एकलव्य, शंभूक आदि मिथकीय पात्रों में समाज के इन उत्पीडितों की अभिव्यक्ति की गयी है। धर्म के ठेकेदार बने लोगों ने धर्म के नाम पर उन्हें और भी बदत्तर स्थिति में धकेल दिया।

धर्म की जो मूल संवेदना है वहीं से मिथकों का भी संबन्ध है। संस्कृति के निर्माण में धर्म का योगदान महत्वपूर्ण है। दार्शनिक दृष्टि से मिथक में जीवन के सत्य का चित्रण हुआ है। संसार में मानव जीवन को सही ढ़ंग से, सही मायने में व्यक्त करने में मिथक सफल सिद्ध हुआ है। मानव जीवन की विराट अभिव्यक्ति मिथकों का मुख्य ध्येय है। इस विराट जीवन की व्याख्या दर्शन में होती है। दर्शन को परिभाषित करते हुए डॉ शिवकुमार मिश्र का कथन है - "जीवन की

अर्थवत्ता के प्रति मानवीय चिंता ही दर्शन और दार्शनिक चिंतन का स्रोत मानी जा सकती है। इस विराट विश्वव को जानने समझने का प्रयास करना और उसमें मनुष्य की अपनी स्थिति का परिज्ञ [illegible] का मुख्य कार्य है।"[1] दर्शन में वर्तमान और भविष्य की समस्याओं के प्रति सजगता है। दर्शन वही है जिसमें मानव जीवन केलिए एक बहत्तर स्थिति का पथ दिखाने का सूत्र बताया गया है। मिथक में भी प्रस्तुत नीतियाँ साकार हुए है। प्रत्येग मिथकीय पात्रों में समाज को एक बहत्तर स्थिति प्राप्त कराने या वस्तुगत सच्चाई से अवगत कराने की क्षमता दृष्टिगोचर होता है। और कर्तव्य की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। इसकी दार्शनिकता के कारण ही भारतीय चिन्तन धारा में गीतोपदेश को सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ग्रीक दर्शन में प्रमथ्यूस की अवधारणा इस प्रकार है कि वह देवताओं के यहाँ से अग्नि चुराकर मानव को दिया ताकि मनुष्य एक बहत्तर स्थिति में पहुँच सके। संसार में मनुष्य से बडा कोई सत्य नहीं है और इस मनुष्य से परे मिथ में हो,दर्शन में हो या कोई भी विचारधारा में हो कोई व्याख्या नहीं हुई है। सभी चिन्तन धाराओं के मूल में मनुष्य है और उसका जीवन है। मानव से बडा कोई सत्य इस धरती में नहीं है।

संस्कृति के क्रियात्मक तत्वों में भाषा का विशेष महत्व है। किसी भी संस्कृति की जीवन्तता का पर्याय है भाषा। भाषा और मिथक का घनिष्ठ संबन्ध है। भाषा के संरचनात्मक स्वरूप की व्याख्या मिथकों के आधार पर किया जा सकता है। भाषा का आदिम स्वरूप मिथकीय है। इसलिए मिथक को आदिकालीन भाषा कहा गया है। इस सन्दर्भ में शंभुनाथ का विचार है- "आदिम समाज में भाषा और मिथक अलग नहीं थे, क्योंकि उस काल की सामाजिक वास्तविकता का स्वरूप समग्रतः मिथकीय था।"[1] भौतिक जीवन का सामना करने केलिए आदिम मानव को भाषा की जरूरत थी। इसके लिए अपने आसपास के वस्तुजगत को पहचानने और उसके प्रति वैचारिक आस्था की स्थापना करने के लिए मनुष्य अपनी कल्पना को जो रूप दिया वही मिथकों में

---

1. सूर्यनारायण भट्ट - धर्म और जीवनस पृ.सं. 115
2. डॉ. शंभुनाथ-मिथक और आधुनिक कविता, पृ.10

परिणत हो गया। उनकी इस कल्पनाशीलता में एक प्रकार की प्रतीकात्मकता थी और उसमें भाषा के तत्वों का सूत्रपात हुआ। भाषाविज्ञान में भी यह सर्वस्वीकृत सत्य है कि भाषा का प्रारंभिक रूप मिथकाश्रित था। भाषा और मिथक के संबन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि वाक् और मिथक तत्व परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। वाक् और मिथक तत्व के संबन्ध में मैक्समुल्लर के मत का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी बताते हैं - "अपने उच्चतर अर्थ में मिथक वह शक्ति है जो मानवचित्त के हर सम्भव मानसिक क्रिया-कलापों में भाषा द्वारा प्रत्युत्पादित होती है। मैक्समुल्लर मिथक तत्व को अनिवार्य मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि हम भाषा में विचार के ऊपरी रूप को अभिव्यक्त करने की शक्ति को मानें तो मिथक तत्व में उसकी अन्तर्निहित आवश्यकता जान पडेगी।"[1] मिथक में भाषा की संरचना एवं स्वरूप निर्विवाद रूप से स्थापित हुआ है। कला, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य आदि समस्त रूपों की अभिव्यक्ति संस्कृति में मानवों द्वारा हुआ है। इन समस्त रूपों में मिथक दृश्य और अदृश्य रूप में अंतर्निहित है। सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को गति देने वाले मिथक अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के संदेश को संप्रेषित करने में सर्वथा सक्षम हुए हैं।

मिथक और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान में मनुष्य की भावनाओं, आकांक्षाओं, भय, दुख आदि सभी तत्वों को अवचेतन मन से संबन्धित करके उसकी व्याख्या की गयी है। मानव पहले बाह्य जगत की वस्तुओं एव घटनाओं को अपने वैयक्तिक जीवन की घटनाआ से संबन्धित करके देखते थे। आदिम युग में मानव और प्रकृति के बीच विभाजक रेखाएँ नहीं थी। समानता और पूर्व संपर्क के द्वारा प्रसिद्ध आलोचक फ्रेजर ने मानव और प्रकृति के बीच के संबन्ध को विभक्त किया है। मानव अपने अचेतन मन में प्रकृति के बिंबों के साथ अपने भावों की अनुभूति करता था। इन अनुभूतियों को

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- ललित सत्य, हजीरी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 7 पृ. 27-28

मानव ने मिथकीय प्रतीकों एवं बिंबों द्वारा व्यक्त किया इसी के संबन्ध में डॉ. नगेन्द्र की मान्यता है- "आदिम युग में जब जागरूक मानव-चेतना का प्रकृति के साथ संपर्क और संघात हुआ तो उसके लिए प्रकृति के क्रियाकलाप को समझने की केवल एक ही विधि संभव थी और वह थी अपने जीवन की घटनाओं तथा मानसिक अनुभवों के आलोक में उसकी व्याख्या करना।"[1] नृतत्वशास्त्रियों के आविष्कारों के आलोक में प्रमुख वैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड ने मिथकों का संबन्ध सबसे पहले आदि मानव के अवचेतन मन से स्थापित किया था। सबसे पहले फ्रायड ने मिथकों की विवेचना अपने स्वप्न सिद्धांत के आधार पर की। उन्होंने मिथकों का जन्म मानव के दिवास्वप्न से बताया और इसके साथ कविता और मिथक को मिथक के निकटवर्ती माना। मनुष्य की दमित कामवासनाओं के उपज के रूप में भी उन्होंने मिथकों का विश्लेषण किया।

फ्रायड के स्वप्न और मिथक संबन्धी व्याख्या का खण्डन करते हुए युंग ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानव के स्वप्न जो केवल वैयक्तिक अनुभूति है उससे मिथकों का जन्म होता है। यह सामाजिक अवचेतन अनेक प्रकार के मिथकों का जन्म का कारण बना। युंग ने व्यक्तिगतअवचेतन और सामूहिक अवचेतन के आधार पर भी मिथकों को विश्लेषित किया। डॉ. रमेश गौतम की मान्यता है- "व्यक्ति का अनुभव जगत चेतना के धरातल पर जब व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त कर जातीय जीवन अथवा समूह का जीवनादर्श बनकर सार्वभौमिक एवं कालनिरपेक्ष विचार-सत्ता हासिल कर लेता है तब व्यक्ति का वह जीवनानुभव निरवैयक्तिक होकर सामूहिक अवचेतन के रूप में परिवर्तित हो प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। यही व्यक्ति के अवचेतन स्तर का व्यापक एवं समाजीकृत रूप अर्थात सामूहिक अवचेतन है। इस सामूहिक अवचेतन का निर्माण आनुवंशिक विचारों, विश्वासों, आस्थाओं, पूर्वप्रचलित आदर्शों या परंपराओं के रूप में होता है।"[2] व्यक्ति चेतन जब सामूहिक अवचेतन में परिणित हो जाता है तो व्यक्तिगत चेतना का महत्व गौण हो जाता है - "मानव संस्कृति के पुराकाल से आद्यतन युग तक की चिंतन एवं संवेदनएँ मिथक में

---

1. डॉ. नगेन्द्र - मिथक औक साहित्य, पृ.सं.23
2. डॉ. रमेश गौतम-मिथकीय अवधारणा और यथार्थ-पृ.सं.29

संचित संस्कार के रूप में होने के कारण ही उन्होंने मिथक को अवचेतन के उपज माना है, जो मानवीय चेतना के नये आयाम विकसित करते हुए जीवन की नयी धारा प्रवाहित करता है। सामूहिक अचेतन में विद्यमान सृजनशील मिथक जीवन के नये तनावों से जुड़कर नया अर्थ ग्रहण करते हैं। मिथक को इसी अर्थ में सामूहिक अचेतन की अंतर्वस्तु बतलाया गया है।"[1] मालती सिंह के विचार में- "मानव का मानसिक ज्ञान इन प्राचीन कथाओं में अंतर्निहित है।वस्तुतः मिथक के माध्यम से मानव-मन की प्रवृत्तियों का सही-सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है।"[2]

मिथक में कल्पना का ठोस आधार निहित है। इन कल्पनाओं के द्वारा सामूहिक अवचेतन इन दो पात्रों में समावेश किया गया है। आद्यबिंबों का स्वरूप बहुत व्यापक है। यह मानव मन में रूढ़ मूल होकर वर्तमान को ही नहीं भविष्य को भी प्रभावित करने की शक्ति रखता है। मानव संस्कार को उदात्त मूल्य प्रदान करने में मिथक पूर्णतः सफल सिद्ध हुआ है। मिथक किसी भी राष्ट्र की सामूहिक चेतना से परिचित होने के लिए एक शक्तिशाली औज़ार है।

मिथक और यथार्थ

यथार्थ वही है जिसमें मानव जीवन और समाज के प्रत्येक स्पन्दन अंकित हो। समाज में मानव की नियति, उसके उतार चढ़ाव, सांस्कृतिक मूल्य सबके प्रति सतर्क दृष्टि यथार्थ की मूल संवेदना है। मिथक के ज़रिए वस्तुस्थिति के यथार्थ को बडी तीव्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है। यथार्थ से तात्पर्य केवल बाह्य रूप में दिखाई देनेवाले यथार्थ से नहीं है। उसके भीतरी स्तर भी होते हैं। घटनाओं के अतिरिक्त मनःस्थिति भी होती है। संक्षिप्त शब्द सागर में यथार्थ के लिए 'वाजिब', 'उचित', 'जैसा होना चाहिए' आदि अर्थ दिये गये हैं। अंग्रेजी में 'Reality' इसका प्रतिशब्द है। अंग्रेजी हिन्दी कोश के अनुसार 'वास्तविकता', 'असलियत', 'यथार्थता', 'सच्चाई' आदि अर्थ हैं।

---

1. डॉ. शंभुनाथ - मिथक और आधुनिक कविता - पृ.56
2. मालती सिंह - मिथक एक अनुशीलन - पृ. 431. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं. 233

यथार्थ वास्तव में जीवन की सच्चाइयाँ हैं। यथार्थ को परिभाषित करते हुए डॉ. रमेश गौतम का कथन है - "यथार्थ बनता है उस जीवन दृष्टि से जो मानव समाज के ऐतिहासिक विकास को देखती है, स्वीकारती है और जो मनुष्य जाति की उन सनातन समस्याओं को पहचानती है जिससे जीवन का ह्रास हुआ है और रेखांकित करती है उन कमियों व अभावों को जिसके चलते मनुष्य पीडित है और स्वप्नों को भी, जो मनुष्य सुख शक्ति की खोज में देखता रहता है।"[1] मानव जीवन की उत्पत्ति और विकास की धारा को अपने में समाहित मिथक यथार्थ की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। मिथक और यथार्थ की व्याख्या मानव के अन्दर और बाह्य जगत के आधार पर किया गया है। अन्दर जगत का तात्पर्य मानव के अचेतन मन से है। भौतिक जगत से प्रभावित होकर आदिम मानव ने अपने मन में जिस प्रकार की अनुभूति की, वे ही अनुभूतियाँ मिथकों के रूप में बाहर निकली थीं। मनोवैज्ञानिकों ने अनुभूतियों को मानव के अवचेतन मन के साथ संबन्धित करके बताया कि मिथक मानव के अन्तर्जगत का वह सत्य है जो सक्रिय बिंबों के द्वारा अनादि काल से मानव मन में संचित है। भारतीय जनमानस में जीवित मिथकीय चेतनाएँ इसके प्रमाण हैं। इन मिथकों में विगत, वर्तमान और भविष्य के जीवन यथार्थ की प्रवाहमयी धारा गतिशील होते हुए दिखाई देती है। मिथकों के मनोवैज्ञानिक यथार्थ का उत्घाटन करते हुए डॉ. नगेन्द्र का कथन है- "यह वास्तव में मानव प्रकृति का परावैयक्तिक स्तर है जिससे किसी एक जाति अथवा युग के नहीं, वरन् आदिम युग से वर्तमान युग तक संपूर्ण मानव समाज में संचित संस्कार विद्यमान रहते हैं।[2]"

सामाजिक यथार्थ के अंतर्गत मिथकों की व्याख्या करने से उसके अनेक आयामी रूप निकल आते हैं। यथार्थवादी दृष्टि ही मिथकों को जीवित रखती है। आदिम युग की सृष्टि उत्पत्ति मिथक हो या प्रकृति से संबन्धित मिथक या मानव के निजी संबन्धों के मिथक हो सभी में

---

1. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं. 233
2. डॉ.नगेन्द्र - मिथक और साहित्य - पृ.27

मानव के वैचारिक यथार्थ अंन्तर्भूत हैं। अनेक विद्वानों ने मिथक संबन्धी आदिम धारणाओं को गलत बताया और इसे यथार्थ के प्रज्ज्वलित रूप में स्वीकार किया। मिथक प्रतीकात्मक एवं कथात्मक रूप में जीवन के यथार्थ को ही व्यंजित करता है। मिथक के सभी रूपों में यथार्थ की प्रतिच्छाया है। चाहे वह आदिकालीन मिथक में हो या आधुनिक काल के मिथक में हो। मिथकीय कथा संन्दर्भों में अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य जुड़े रहते हैं। महाभारत, रामायण और उपनिषदों की सार्थकता आज के जीवन यथार्थ के अंतर्गत अधिक हो रहे हैं। पुराणों में अंतर्निहित मूल्य सृजनात्मक धरातल पर युगीन सन्दर्भ से जुडकर नई अर्थ व्यंजनाएँ करने से ही उसमें मिथक का तत्व आरोपित कर सकते हैं। ऐतिहासिक एवं पौराणिक सत्य की अभिव्यक्ति के साथ साथ मानव जीवन के यथार्थ को रचनाकार इसके माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं। आधुनिक युग में मिथक यथार्थ की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण साधन बन चुका है- "आधुनिक मिथक यथार्थ सम्पृक्त है, या इसे यों भी कहा जा सकता है कि वे हमारे गहरे यथार्थ बोध को उजागर करते हैं। आधुनिक युग के मिथक यथार्थ के बिना मिथक का निर्माण नहीं हो सकता है। तथा यथार्थ के बिना मिथक को अच्छी तरह से पहचाना नहीं जा सकता है।"[1] मिथक और यथार्थ संबन्धी शंभुनाथ की अवधारणा है- "मिथक परम्परा की पूरी शक्ति से यथार्थ को उभारने और यथार्थ आधुनिकता की पूरी शक्ति से मिथक को नया स्तर देने में द्वन्द्वात्मक रूप से सन्नद्ध हो जाते हैं जिसकी परिणति कला, साहित्य और संस्कृति के विकास में होती है।"[2] साहित्य में प्रयुक्त होने के बाद मिथक में यथार्थ की शक्ति बढ़ जाती है। क्योंकि साहित्य और मिथक में चिरंतन सत्य तथा सामायिक सत्य का समावेश हुआ है। मिथक को आदिममानव की भाषा एवं साहित्य भी कहा गया है। मिथकों का मूल उद्देश्य परंपरा के प्रति लोगों में जागरूगता उत्पन्न करके अतीत को नये जीवन आदर्शों के तहत प्रस्तुत करना है। मिथकों का यही प्रयोग साहित्य में मिथक द्वारा यथार्थ की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण कारण है। विभिन्न समूहों एवं जातियों के संपूर्ण संस्कार को समझने के लिए मिथक सहायक सिद्ध हुए हैं। जब भी, जहाँ भी हमारी असलियत की पहचान संदिग्ध होती है, तभी वहीं

---

1. डॉ. माधुरी पाण्डेय- अज्ञेय के काव्य में मिथकीय संचेतना-पृ.27

2. 1. डॉ. शंभुनाथ - मिथक और आधुनिक कविता, पृ.सं. 12

हम मिथक का सहारा लेते हैं क्योंकि मिथक यथार्थ की पहचान का हमारे सबसे पुराना साधन रहा है। मिथक की सत्ता का और मिथक के निरन्तर नया होकर सामने आने का कारण यह भी है कि संस्कृतियाँ उसके सहारे अपना नवीकरण करती चलती हैं। सृजनात्मक स्तर पर मिथक के यथार्थ आद्यतन बनते जा रहे हैं। मिथक युक्त साहित्य का कालजयी होना मिथक की यथार्थ शक्ति को ही व्यंजित करता है। रचनाकार जब एकलव्य का मिथक चित्रण करता है तो वर्तमान समय की शैक्षिक व्यवस्था और मनुष्य की स्वार्थपरता आदि अभिव्यक्त होते है। इस प्रयोग में ही मिथकों की यथार्थशक्ति निहित है। मिथक में यथार्थ के तत्व दर्शाने के लिए उसकी भौगोलिक वातावरण और परिवेश का होना जरूरी है। यहीं नहीं लोक आस्था को नज़र में रखकर ही मिथक का प्रयोग करना संगत है।

मिथक का सर्वाधिक प्रयोग साहित्य में ही हुआ है। युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति के धरातल पर ही साहित्य में मिथक का प्रयोग होता है। उसकी यथार्थ दृष्टि ही मिथकों की जीवन्तता का कारण है। इसकी प्रतीकात्मक संरचना में वास्तविकता का तत्व रूपायित किया गया है। रमेश गौतम के विचार से निषकर्षित कर सकता है- "मिथकों का कार्यव्यापार, जो युगांकाक्षा के अनुरूप मानवहितों को अग्रसित कर सकें एवं अतीत से पकडे हुए सूत्रों को वर्तमान में खडा करके भविष्य का ठोस सपना ले सकें। सम्भवतः यहीं से शुरू होता है यथार्थ और मिथक अर्थात वर्तमान और अतीत की कड़ी से जुडा हुआ वह रचना-संसार, जो युगांकाक्षा के अनुरूप भविष्य की ओर जाता है।"[1]

---

1. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं.232

साहित्य में मिथक और यथार्थ

साहित्य के संरचनात्मक विधान की निर्मिति मिथकीय तत्वों पर आधारित है। आदिम मानव के सम्पन्न मस्तिष्क की उपज होने के साथ-साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी संपन्न मिथक साहित्य में ही नहीं जीवन में भी इस प्रकार व्याप्त है कि मानव जीवन और उसके चेतन, स्वतः हो जाता है। क्योंकि मिथक में निहित सत्य अंतिम रूप में मानव की संवेदनाओं और भावनाओं का सत्य होता है। मिथक की विकासशील प्रवृत्ति साहित्य में इसकी सार्थकता एवं सार्वकालिक शक्ति को व्यंजित करती है। इस सार्वकालिक शक्ति द्वारा साहित्यकारों ने मिथकीय बिंबों एवं प्रतीकों के समयानुकूल प्रयोग द्वारा साहित्य को समृद्ध किया है। मिथकों से ही मानव ने साहित्य सृजन का संस्कार अर्जित किया था। इसलिए किसी भी देश की सभ्यता और साहित्य में मिथकीय चेतनाएँ समृद्ध हैं - "विश्व का कोई भी साहित्य अपने मातृदेश की मिथकीय परंपराओं से असंपृक्त नहीं है। पुरातन काल से साहित्य केलिए मिथक विषय वस्तु का कार्य करता रहता है।"[1]

मानव इतिहास के आरंभकाल से ही मिथक और साहित्य का गहरा सम्बन्ध रहा है। साहित्य सृजन के आरंभ काल से ही साहित्य ने मिथक से प्रेरणा ली है। दोनों के स्वरूपों में बहुत समानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे भावात्मकता, कल्पनात्मकता, चित्रात्मकता आदि। साहित्य के अंतर्गत मिथक हमेशा जीवन्त रहा है। साहित्य के साथ मिथक का सहजात संबन्ध है। मिथकों को साहित्य के विशिष्ट अंग के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। मिथक साहित्य की सर्जनात्मकता का मूर्त रूप है जिसमें रचनाकार कल्पना और यथार्थ को एक दूसरे का पूरक बनाकर यथाबोध की सृष्टि करता है। मिथकों के मूल में प्रकृति के साथ रागात्मक एवं भावनात्मक संबन्ध स्थापित हुआ है। मिथकीय साहित्य की महत्ता एवं सार्थकता को निर्विवाद रूप में सभी रचनाकार एवं पाठकों ने स्वीकार किया है। मिथक विश्व साहित्य को एक नया जीवन देने में सक्षम रहे हैं। सभी

---

1. डॉ. मालती सिंह - मिथक एक अनुशीलन, पृ.सं.48

देशों के साहित्य भण्डार मिथकों से समृद्ध हैं। भारत में मिथकीय साहित्य की लम्बी परंपरा है।संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास को भारत का शैक्सपियर कहा जाता है। कालिदास के 'मेघदूत', 'अभिज्ञाशाकुन्तल', 'कुमारसम्भव' आदि कालजयी रचनाएँ मिथकीय चेतनाओं से भरी हैं। मिथकीय समीक्षा का आरंभ पश्चिम में बहुत पहले हुआ था। भारत में इसकी शुरुआत पाश्चात्य चिन्तनधाराआ से ही अनुप्राणित है। भारतीय रचना संसार मिथकों से भरा था लेकिन इसकी समीक्षा आधुनिक युग में प्रारंभ हुआ। आज भारतीय साहित्य में मिथकों का अपना विशिष्ट योगदान रहा है। यह आज साहित्य द्वारा जीवन के प्रत्येक पक्ष की अभिव्यक्ति कर रहा है। अलौकिकता में लौकिकता की अभिव्यक्ति मिथकों की खास विशेषता है। लोककल्याण एवं लोकमंगल को दृष्टि में रखकर पहले मिथकों की सृष्टि हुई थी। याने मिथकों की मूलचेतना लोककल्याणकारी है। भारत के सभी मिथकों में यह चेतना देखा जा सकता है। विष्णु के अवतार स्वरूप को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। जहाँ-जहाँ अधर्म की सृष्टि होती है वहाँ धर्म की पुनःस्थापना के लिए ईश्वर अवतार लेते हैं। विष्णु के अवतार रूप में यह लोककल्याणकारी रूप अंतर्भूत है। उदात्त जीवनादर्शों की स्थापना साहित्य का लक्ष्य है। मिथकों के जरिए साहित्यकार ने इसे और सार्थक सिद्ध कर दिया है। मिथकों के आदर्श रूप को ओर प्रतिष्ठित करते हुए डॉ. रमेश गौतम कहते हैं - "इसका मुख्य ध्येय व्यष्टि से समष्टि की ओर, अंश से समग्रता की ओर, विघटन से संगठन की ओर विग्रह से संधि की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर एवं कल्पना से यथार्थ की ओर उन्मुख होना है।"[1] मिथक और साहित्य का संबन्ध अनेक आयामी है क्योंकि मिथक ने अपने विभिन्न अर्थ संभावनाओं से साहित्य को समृद्ध किया है - "मिथक और साहित्य का सम्वाद एक निरन्तर सम्वाद है क्योंकि साहित्य ही मिथक को नया अर्थ देता है।, उन्हें भिन्न रचनात्मक आशय प्रदान करते हैं।"[2] सृजन के स्तर पर साहित्य और मिथक में कोई अन्तर नहीं है। दोनों तत्वतः एक हैं। लेकिन साहित्य को कभी मिथकों के पर्याय के रूप में नहीं लिया जा सकता साहित्य और मिथक केवल समानधर्मी है। किसी भी मिथक का प्रयोग करते समय

---

1. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ - पृ. 115
2. रतन कुमार पाण्डेय(सं) - साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति, पृ.सं. 110

साहित्यकार केलिए यह देना जरूरी है कि मिथक संबन्धी संपूर्ण जानकारी उन्हें होनी चाहिए। मिथक के प्रति लोगों की आस्था भी होनी चाहिये। इसके बाद युगीन आवश्यकताओं एवं समस्याओं को केन्द्र में रखकर एक सशक्त रचना की सृष्टि मिथक द्वारा संभव हो जाती है जो यथार्थ के ड़ोर से बंधा हुआ है। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने राम को युग पुरुष के रूप में चित्रित किया था। इसी प्रकार लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता गोविन्द' में कृष्ण को कर्मयोगी के रूप में चित्रित किया था। इससे यही बात ज्ञात होता है कि युगीन सन्दर्भ तत्कालीन युगीन यथार्थ से सामंजस्य होकर एक नए अर्थ को व्यंजित करता है तो वह सार्थक हो जाता है। क्रिस्टफर काडवेल की प्रसिद्ध पुस्तक 'इल्यूजन एण्ड रियालिटी' में मिथकों को काव्य के साथ मिलाकर देखा गया है। उनके मत में - "आदिम मनुष्य मिथक के रूप में शब्दों में जिन बिंबों को प्रस्तुत करता है वे तथ्य के ही बिंब होते हैं। ये उसी प्रकार के बिंब हैं जिस प्रकार उसके द्वारा बताए उसके शत्रु के जादू के पुतले। इसके प्रति उसका व्यवहार वस्तुतः तथ्य के प्रति ही होता है।"[1] समकालीन साहित्यिक विधाओं में मिथकों की अजस्र धारा बह रही है। "विश्व का किसी काल का कोई ऐसा साहित्य नहीं जिसमें मिथकों की महत्वपूर्ण भूमिका न मिले।भारतीय साहित्य में भी मिथकों का बहुविध प्रयोग हुआ है। इनकी शक्ति अमोघ रही है तथा आज विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हो चुका है।"[2]

भारतीय साहित्य में मिथकों की लम्बी परंपरा है। भारतीय साहित्य का मूल मंत्र वेदों और उपनिषदों से निसृत है। वैदिक साहित्य का मुख्य मिथक है देवासुर संग्राम। यह मिथक एक तरफ से सृजन और विनाश की शक्तियों के संघर्ष को रेखांकित करता है तो दूसरी ओर मानव मन के अंतर्गत होनेवाले द्वंद्व एव संघर्ष को रेखांकित करता है। आदिकाल, मध्यकालऔर आधुनिक काल के साहित्य में मिथकों का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है विशेषकर हिन्दी नाटकों में। हिन्दी नाटकों में आरंभ से ही मिथकीय चेतना को केन्द्र में रखकर अनेक नाटकों की रचना हुई है। भारत

---

1. क्रिस्टफर काडवेल - विभ्रम और यथार्थ - पृ.88

2. डॉ. एल बी राम अनंत- रचनात्मक साहित्य और मिथक - गगनाञ्चल

से लेकर अन्य देशों के नाटकों में भी अनेक प्रकार के मिथकीय प्रयोग उपलब्ध हैं। नाटक की **उत्पत्ति** के साथ एक दैवी कथा भी जुडी हुई है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति वैदिक काल के पर्वों **एवं** अनुष्ठानों में से हुई है।

संस्कृत नाटकों में भास, कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में मिथक के प्रयोग व्यापक रूप से हुए हैं। भास ने अपने नाटकों में महाभारत को आधार बनाकर रचना की है। कालिदास के सभी नाटकों में मिथक के आधार ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनके नाटकों में मानवीय संवेदनाएँ चरम स्थिति तक पहुँचते हुए दिखाई देती हैं। भवभूति के नाटकों में मिथकों का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में हुआ है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों में मिथकीय चेतना का प्रयोग हुआ है। श्रीहर्ष के रत्नावली और नागानन्द, विशाखदत्त, मुद्राराक्षस आदि में मिथकीय प्रयोग बहुत हुआ है।

परवर्ती युग में भारतेंदु युग के नाटको में मिथकों का प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ। भारतेन्दुकालीन नाटकों में नैतिक उपदेशात्मकता को लक्ष्य करके मिथकों का प्रयोग हुआ है। इस युग के नाटककारों ने समाज परिष्कार, जनता में शिक्षा का प्रचार, देश-प्रेम आदि को अपने नाटकों का मुख्य विषय बनाया। इन विषयों के प्रचार के लिए ऐतिहासिक पौराणिक मिथकों को अपने नाटकों की विषय वस्तु बनायी- "भारतेन्दु और उनके सहयोगी नाटककारों का प्रमुख उद्देश्य जन-सामान्य में भारत के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव एवं नैतिक चेतना को उदबुद्ध कर उन्हें देश की स्वतंत्रता तथा पारस्परिक साम्प्रदायिक ऐक्य की ओर अग्रसरित करना था। इस लक्ष्य की पूर्ती के लिए उन्होंने वर्तमान के संकटों-संघर्षों से जूझते हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक पौराणिक सामग्री का उपयोग किया।"[1]

---

1. डॉ. रमेश गौतम - मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ.सं. 233

प्रसाद युगीन नाट्य साहित्य में वर्तमान विसंगतियों को मिथकों के जरिए अभिव्यक्ति मिली थी। स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण प्रसादयुगीन नाटकों में मिथकों के जरिए हुआ है। प्रसाद ने अपने नाटकों में मिथकों के जरिए राष्ट्रीय सांस्कृतिक बोध को अधिक जगाया था। उस युग के मिथकीय नाटकों में सास्कृतिक चिंतन ही अधिक हुआ था- "इस काल के एतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना, आदर्शवादी नैतिकता का अतिरिक्त आग्रह तथा राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रांकन मुख्य रूप से हुआ है।"[1]

प्रसादोत्तर एवं स्वातंत्र्योत्तर नाटककार आधुनिक भावबोध से जुड गए थे। जगदीश चन्द्र माथुर ने 'कोणार्क', 'शारदीया', 'पहला राजा', आदि नाटकों में मिथकों के माध्यम से तत्कालीन समाज के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों पर दृष्टि डाली है। धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' एक सशक्त मिथकीय कथावस्तु पर आधारित नाटक है। इसमें अंधे युग के अंधे पात्रों के माध्यम से रोशनी की बात की गयी है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' आदि में मिथक के माध्यम से मानव-चेतना की दुविधाग्रस्त स्थिति, स्त्री-पुरुष संबन्धों का तनाव, वैचारिक मान्यताओं की टकराहट, मानव के व्यक्तिगत अस्तित्व के प्रश्न को अलग-अलग प्रकार से समझने की कोशिश की गयी है।

आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम और द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात देश की त्रासद स्थितियों को भोगते हुए नाटककारों ने अपने नाटकों में मिथक का प्रयोग सामाजिक विसंगतियों के यथार्थ चित्रण के लिए किया। 'लक्ष्मीनारायण लाल', 'शंकरशेष', 'सुरेन्द्र वर्मा', 'भीष्म साहनी', 'मणि मधुकर', 'नरेन्द्र मोहन', 'गिरिराज किशोर', 'भारतभूषण आग्रवाल', 'दया प्रकाश सिन्हा', 'नन्दकिशोर आचार्य', 'रमेश बक्षी' आदि नाटककारों ने समसामयिक युग की समस्याओं और विसंगतियों को युगानुरूप आदर्शों और परिवेशों के साथ मिथकीय बिंबों एवं प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया।

---

1. डॉ. रमेश गोतम - हिन्दी के प्रतीक नाटक,पृ.सं.130

निष्कर्ष

मिथक मानव जीवन में बडी व्यापक मात्रा में रूढ़ मूल एक तत्व है। आज के भौतिकवादी युग में मानवीय संवेदनाएँ बिल्कुल यांत्रिक होती हुई दिखाई दे रही हैं। उपयोगितावादी दृष्टिकोण और यांत्रिकता ने सहज मानवीय भावनाओं को नष्ट कर दिया है। आज के वैज्ञानिक युग में मिथक की महिमा एवं मान-मर्यादाएं समाजोपयोगी सिद्ध हुई है। मिथक और समाज का अटूट अभिन्न एवं घनिष्ट संबन्ध है। मिथक का उद्देश्य मानव को अपने तनाव एवं द्वद्वों से मुक्ति कराना और अकर्मण्य एवं अतिकर्मण्यता में सामंजस्य लाना आदि है। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक दायित्व के निर्वहन में मिथक क्षमता, शक्ति और ऊर्जा रखता है। यह हमारे रचनात्मक एवं सर्जनात्मक प्रकिया के मूलाधार है।

अतः मिथक एक जटिल सास्कृतिक सत्य है जो मानव प्रकृति और विश्व के पवित्र इतिहास को अनेक प्रकार से रेखांकित और विवेचित करता है। यह विश्व को जीवन के सामने, जीवन को मनुष्य के सामने और दूसरों को आत्म-प्रेम के सामने सम्मान देता है। अलौकिकता और अतिमानवीयता से युक्त होकर भी आधुनिक मानव ने मिथक को अपनी संपूर्ण चेतना के साथ स्वीकार किया है और साहित्य में इसका भरपूर प्रयोग किया है और किया जा रहा है। आज,मिथक साहित्य का अभिन्न और प्राणवत अंग बन चुका है। अनादिकाल से यह हमारे साहित्य धरोहर को समृद्ध करता आ रहा है। विश्व का कोई भी साहित्य अपने मातृदेश की मिथकीय परंपराओं से असंपृक्त नहीं है। क्योंकि मिथक और साहित्य तत्वतः एक है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मिथकों की एक लंबी परंपरा है।

दूसरा अध्याय

हिन्दी नाटक में मिथक और यथार्थ : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

प्रस्तावना

साहित्य समाज को जीने की एक स्वस्थ दृष्टि देता है जिससे समाज में एक संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। यह व्यक्ति का संस्कार करके अपनी सामयिक स्थिति से उन्हें अवगत भी कराता है। उसे नई राहों की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी देता है। साहित्य का सरोकार हमेशा पीडितों के प्रति है। साहित्यकार अपनी कलम द्वारा एक संवेदनात्मक लगाव हमेशा समाज में बनाए रखता है। वह हमेशा यथार्थ को तलाशने की कोशिश भी करता है और मानव को मानव के रूप में देखने का सदैव इच्छुक रहता है। इस यथार्थ को पकडने के लिए साहित्यकार अपनी रचना में कई माध्यमों का प्रयोग करता है। इन प्रयोगों में मिथक सर्वथा सशक्त स्थापित हुआ है। हिन्दी नाटकों में मिथकीय प्रयोग सफल सिद्ध हुआ है।

नाटक एक सामाजिक कला है। लोगों के साथ सीधा संबन्ध रखने के कारण यह सबसे सशक्त विधा भी है। नाटक की इसी विशेषता ने उसे अधिक लोक प्रचलित भी बनाया है। नाटक हमेशा समसामयिकता से जुड़ा रहता है। हिन्दी साहित्य में नाटक का क्षेत्र काफी व्यापक है। गद्य के प्रारंभकर्ता भारतेन्दु ने ही आधुनिक हिन्दी नाटक की नींव डाली थी। उन्होंने अपने नाटकों में अतीतकालीन गौरव को समसामयिकता से जोड़कर प्रस्तुत किया था। इन नाटकों के द्वारा राष्ट्रीय पुनर्जागरण ही उनका लक्ष्य था। भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद नाटक के क्षेत्र में उतरे जो भारतीयता के पूजारी थे। प्रसाद जी भी अतीत को पकडकर आगे बढ़े। इनके नाटकों में अतीत पुनर्जीवित होने के बजाय पुनर्विचार के तहत प्रस्तुत है। प्रसाद के बाद स्वातंत्रयोत्तर एवं समकालीन युग में कई नाटककारों ने जीवन की अर्थवत्ता, मुल्यबोध एवं यथार्थ की प्रस्तुति के लिए मिथकों को अपनी विषयवस्तु बनायी। इन नाटककारों ने आज के मनुष्य की संघर्षमयी स्थिति को प्रमाण रूप में मिथकों में प्रयोग किया था। आज भी यह जारी है। मिथकों की सार्वकालिकता ही इसका कारण है। पौराणिक चरित्रों को आधार बनाकर हिन्दी में कई नाटक

लिखे गये। इन नाटककारों ने अतीत के अप्रकाशित अंश को प्रकाशित करने के बजाय उन्हीं विशिष्ट अंशों एवं सार्थक सन्दर्भों की ओर ध्यान दिया जो समकालीन यथार्थ को ज़ाहिर करते हैं। इस अध्याय में मिथकीय परंपरा से संपृक्त नाटकों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का विचार है।

पूर्व स्वतंत्रताकालीन नाटकों में मिथक और यथार्थ

आधुनिक हिन्दी नाटकों की नींव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही डाली थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया और वे समकालीन तथा भारतीय नाटककारों के लिए प्रेरणास्रोत बने। उन्होंने अपने नाटकों में समाज-सुधार, देश-कल्याण, देश-भक्ति, संस्कार आदि को महत्व दिया। तत्कालीन सामाजिक अवस्थाओं के प्रति देशवासियों को जागृत करना उनका मुख्य ध्येय था। विदेशी शासन ने समाज में असुरक्षा का भाव पैदा किया था। अपने नाटकों में इसकी प्रतिक्रिया उन्होंने व्यक्त की। समाजोन्मुखी नाटकों की रचना करके एक व्यापक दर्शक समूह में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना जगाने में वे सफल सिद्ध हुए। उन्होंने अपने नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं का चित्रण करके जनता को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के प्रति सचेत किया। उन्हें प्रतीत हुआ कि अतीत के माध्यम से युगानुकूल सत्य तथा आदर्श पुनःस्थापित किया जा सकता है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों द्वारा जनता में आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास जगाने की भरपूर कोशिश भारतेन्दु द्वारा हुई। अनेक परंपराओं को आत्मसात करते हुए जीवन संबन्धी यथार्थ उनके नाटकों का मुख्य विषय बन गया साथ ही साथ वे समकालीन नाटककारों के लिए प्रेरणास्रोत भी बने।

भारतेन्दु युगीन नाटककारों का भी मुख्य विषय तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ थीं। उनके द्वारा प्रायः सभी प्रकार के नाटक लिखे गये जैसे पौराणिक, प्रेम प्रधान,

प्रतीकात्मक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक। इन सभी नाटकों में युग - यथार्थ का चित्रण मार्मिक ढंग से हुआ। मिथकीय चेतना से युक्त नाटकों में अतीत को माध्यम बनाकर राष्ट्र-प्रेम की भावना को ही जगाया गया। "भारतेन्दु तथा अन्य नाटककारों ने प्राचीन कथानकों को लेकर वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल नाटकों की रचना की। एतिहासिक नाटकों में देश-प्रेम की भावना प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुई।"[1] भारतेन्दु युग के सभी नाटकों में सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ घुल-मिल गई हैं। सभी नाटक युगीन भावबोध से संपृक्त थे। मिथकीय चेतना के जरिए उसे अभिव्यक्ति दी गयी।

भारतेन्दु ने नाटक के क्षेत्र में अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं का परिचय देकर हिन्दी नाटक क्षेत्र को एक नयी दिशा प्रदान की थी। भारतेन्दु के संबन्ध में गिरीश रस्तोगी का मंतव्य है - "भारतेन्दु अपने युग के निर्माता नहीं थे, समकालीन साहित्य के लिए एक अप्रतिम उदाहरण और आदर्श हैं। देश-काल की सीमा से परे उनका साहित्य सचमुच मनुष्य को जानने, देश के चरित्र और संस्कृति की पहचान करने-कराने का माध्यम है। आलोचकों ने कबीर को अगर पहला युग प्रवर्तक कहा तो भारतेन्दु को दूसरा क्योंकि दोनों में ही अपने को मिटाने की भावना, क्रान्ति की चेतना और अपने ही वर्ग और वातावरण को विदेशी सत्ता को भी सजग आलोचक की दृष्टि से देखने और दो टूक बेबाक ढ़ंग से कह देने की, व्यंग्य और हास्य की जिन्दादिली और निर्भीकता थी। दूसरी ओर प्रेमचन्द की तरह जीवन के यथार्थ को देखने, चित्रित करने की प्रवृत्ति और निराला जैसी उदारता, निष्ठा, जीवन्तता और पौरुष भी था।"[2] भारतेन्दु, केलिए साहित्य समाज में प्रगतिशीलता एवं राष्ट्रीय नवजागरण स्थापित करने का माध्यम था। उनके द्वारा नाटक के क्षेत्र में एक रंगमंच-आन्दोलन की पेशकश की गई। उन्होंने अनूदित एवं मौलिक दोनों तरह के नाटकों का सृजन किया। नाटक उनके लिए अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम था। 'नाटक' नामक ग्रन्थ लिखकर नाटक के शास्त्रीय-ज्ञान का भी परिचय उनके द्वारा हुआ। इस सन्दर्भ में डॉ.नीलिमा शर्मा

---

1. डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल- हिन्दी नाटक और नाटककार, पृ.26

2. गिरीश रस्तोगी - हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, पृ.सं.1

का विचार उल्लेखनीय है - "भारतेन्दु ने रंगमंच को नाटक की अनिवार्य शर्त मानते हुए हिन्दी नाटक को पहली बार एक स्वस्थ रंगमंचीय, साहित्यिक, मौलिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने मंचधर्मी मौलिक हिन्दी नाटकों की रचना की और अपने नाटकों में बंगला, संस्कृत, पाश्चात्य और लोक नाट्य- शैलियों का समन्वय किया।"[1] भारतेन्दु के समय में मिथक पर कोई विशेष चर्चा नहीं हुई थी। लेकिन भारतेन्दु ने अनेक मिथकीय सन्दर्भों को लेकर नाटक का प्रणयन किया और मिथक द्वारा युगीन सन्दर्भ में काफी कुछ कहने की कोशिश भी की। इस सन्दर्भ में डॉ.बच्चन सिंह की दृष्टि है - "उस युग में दो दृष्टियों से ऐसे नाटकों की रचना हुई एक तो अपने पूर्व पुरुषों की याद दिलाकर प्राचीन गौरव को उद्‌बुद्ध करने के लिए और दूसरे पौराणिक चरित्रों के आधार पर उच्च भारतीय आदर्श की पुनःप्रतिष्ठा तथा नवीन-युग चेतना को प्रतिभावित करने के लिए।"[2] जनता में स्वदेशानुराग जगाने के लिए उन्होंने अपने नाटकों में अतीत की पुनःप्रतिष्ठा की थी।

भारतेन्दु के द्वारा अनेक नाटकों की रचना हुई। उनके प्रमुख नाटक है 'विद्यासुन्दर', 'रत्नावली', 'पाखण्ड विडम्बन', 'नीलदेवी', 'वैदिकि हिंसा हिंसा न भवति', 'धनंजय विजय', 'प्रेमजोगिनी', 'सत्य-हरिशचन्द्र', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'विषस्यविषमौषधम' 'श्री चन्द्रावली', 'सती प्रताप' आदि। इसमें 'सत हरिशचन्द्र', 'चन्द्रावली', 'सती प्रताप', और 'धनंजय विजय' आदि मिथकीय पात्रों को लेकर लिखे गये नाटक हैं। इन सभी नाटकों में तात्कालीन युग यथार्थ मार्मिक ढंग से उत्भासित हुआ है।

भारतेन्दु के पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों में विगत की परंपरा द्वारा नवीन दृष्टिकोणा एवं विचारों को स्थान दिया गया। इनमें अतीत का केवल प्रश्रय न होकर नवीन भावबोध की सृष्टि हुई है। क्योंकि वे अतीत के उज्ज्वल परंपराओं को मानते थे। उनके नाटकों में मुख्य रूप से राष्ट्रीय-चेतना और सामाजिक पुनरुद्धान की भावना झलकती है। वे नारी-शिक्षा और नारी जागरण

---

1. नीलिमा शर्मा - साठोत्तर हिन्दी नाटक, पृ.सं.45
2. डॉ. बच्चन सिंह- हिन्दी नाटक, पृ.सं 27

को महत्वपूर्ण मानते थे। उनके कई नाटक नारी जागरण से प्रेरित हैं। उनकी रचनाओं का मुख्य ध्येय रूढ़ि-विरोध, सामाजिक विकृतियों एवं बुराइयों के प्रति विरोध था। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से एक उत्कृष्ट आदर्श समाज की कामना की। उनके समकालीन नाटककारों ने भी ऐसे आदर्श लेकर रचनाएँ की और नाट्य-साहित्य को पूर्ण रूप से जनजीवन के साथ जोडा था। उस युग के कई नाटकों में प्राचीन आदर्श और तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु द्वारा लिखित एक महत्वपूर्ण नाटक है। इसमें राजा हरिशचन्द्र के सत्य एवं त्याग का वर्णन है। इस पौराणिक कथावस्तु द्वारा भारतेन्दु का लक्ष्य विदेशी शासन द्वारा समाज में व्याप्त असत्य- व्यापार के प्रति जनता को सजग करना एवं देशवासियों को सत्य एवं त्याग के पथ का अनुगमन करने के लिए प्रेरणा देना था। 'चन्द्रावली' उनके मौलिक नाटकों में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त नाटक है। इस में प्रेम को मुख्य विषय के रूप में लिया गया है और प्रेम की महत्ता और लौकिक बाधाओं के बारे में प्रतिपादित किया गया है। 'सती-प्रताप' भारतेन्दु की अपूर्ण रचना है इसमें पौराणिक पात्र सत्यवान-सावित्री को केन्द्र में रखा गया है। 'धनंजय विजय' में अर्जुन का मिथक है। इसमें अर्जुन द्वारा विराट की गायों की रक्षा का वर्णन है। इस मिथकीय सन्दर्भ द्वारा कर वृद्धि के प्रति विद्रोह की भावना को दर्शाया गया है। 'नीलदेवी' उनका ऐतिहासिक घटना-प्रधान गीति रूपक है। नारी का तेजस्वी और निर्भीक रूप नीलदेवी में दर्शाया गया है। 'नीलदेवी' अतीत के प्रसंग को युगीन भावबोध से संपृक्त कर लिखनेवाला पहला नाटक है। तत्कालीन सामाजिक यथार्थ इन मिथकों के जरिए उजागर करके भारतेन्दु ने हर दृष्टि से नाटक को समृद्ध किया और जीवन के हर क्षेत्र से नाटकों की सामग्री भी संचित की। उनके द्वारा रचित यथार्थवादी पात्र समाज के विभिन्न वर्गों की प्रतिनिधि हैं।

भारतेन्दु युग के प्रमुख नाटककार हैं प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास आदि। प्रताप नारायण मिश्र ने भी मिथकीय चेतना से युक्त अनेक नाटकों की रचना की। उनका भी मुख्य विषय सामाजिक असामनताएं थी। अतीतकालीन चेतना से युक्त उनके प्रमुख नाटक हैं 'कलिकौतुक रूपक', 'हठी हम्मीर', 'संगीत शाकुन्तल' आदि। 'कलिकौतुक' नाटक में कलियुग के मिथक को लिया गया है। इसमें कलियुग के दुराचारों एवं कुकर्मों का खुलासा किया गया है। 'हठी हम्मीर' में ऐतिहासिक मिथक है। इसमें अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण की कथा कही गयी है। देश भक्ति की भावना एवं नारी की विलासी प्रकृति की ओर भी इसमें इशारा किया गया है। 'संगीत शाकुन्तल' में दुष्यन्त और शकुन्तला के मिथक का प्रयोग है।

बालकृष्ण भट्ट जी द्वारा लिखित प्रमुख पौराणिक चेतना युक्त नाटक हैं 'शर्मिष्ठा', 'मृच्छकटिक', 'पद्मावती', 'चन्द्रसेन', 'किरातार्जुनीय', 'पशुचरित या वेणुसंहार', 'शिशुपाल वध', 'नलदमयंती या दमयन्ती स्यंवर', 'वृहन्नला', 'सीता बनवास', 'पतिपंचम', 'मेघनाथ वध' आदि। 'दमयंती स्वयंवर' में नल-दमयंती का मिथक है। इसमें श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है। 'वेणुसंहार' में राजा वेणु के अत्याचारों से पीडित प्रजा की कष्टताएँ दिखायी गयी हैं। तत्कालीन सामयिक परिस्थितियाँ इसमें देखी जा सकती हैं। 'वृहन्नला'का कथांश महाभारत से है। इसमें भी तत्कालीन सामाजिक यथार्थ उजागर हुआ है।

मिथकों पर आधारित लाला क्षीनिवास दास के प्रमुख नाटक हैं 'प्रह्लाद चरित', 'तप्तासंवरण', 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'संयोगिता स्वयंवर' आदि। 'प्रह्लाद-चरित' नाटक में प्रह्लाद के मिथक के जरिए भारतीय-आदर्शों की प्रतिष्ठा एवं जातीय गौरव को दर्शाया गया है। 'संयोगिता स्वयंवर' में ऐतिहासिक मिथक है। 'तप्तासंवरण' में राजा संवरण तथा सूर्य की पुत्री

तप्ता की प्रेमकथा है। इन नाटकों के जरिए नाटककार ने मुख्य रूप से मानव के अंतःसंघर्षों को चित्रांकित करने की कोशिश की है। यहीं नहीं उन्होंने अपने नाटकों के जरिए समाज और देश के प्रति अपना दायित्व प्रकट करने की भरपूर कोशिश भी की है।

राधाचरण गोस्वामी जी के प्रमुख नाटक हैं 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' आदि। 'सती चन्द्रावली' ऐतिहासिक नाटक है जिसमें उन्होंने देश की रक्षा का संकेत दिया है। लोकगीतों से इसकी कथायोजना की गयी है। 'अमरसिंह राठौर' के ज़रिए देश भक्ति को ही जगाया गया है। गौरवमय अतीत का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत नाटक में हुआ है। मिथक पर आधारित अन्य नाटक हैं 'पद्मावती', 'महाराणा प्रताप' आदि। इनमें ऐतिहासिक मिथक का चित्रण हुआ है। 'पद्मावती' में राजपूत क्षत्राणियों के गौरव जीवन का चित्रण कर वर्तमान पतनोन्मुख नारी समाज को प्रेरणा दी गई है। 'महाराणा प्रताप' में महाराणा प्रताप और मुगल शासक अकबर के ऐतिहासिक वृत्त का चित्रण है।

अम्बिकादत्त व्यास के चार नाटक हैं 'ललिता नाटक', 'गोसंकट नाटक', 'मन की तरंग' और 'भारत सौभाग्य नाटक'। 'ललिता नाटक' में कृष्ण का मिथक है। 'गोसंकट नाटक' में सम्राट अकबर के गौ-वध विरोध के प्रयत्न को चित्रित किया गया है।

भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है। इन परिस्थितियों के प्रति सामान्य मानव में जागरण उत्पन्न करने के लिए मिथकीय तत्वों को आधार बनाया गया था। इस सन्दर्भ में डॉ. रमेश गौतम का यह विचार उल्लेखनीय है - "भारतेन्दु-स्कूल की रचनाकारों का इतिहास-पुराण का आधार ग्रहण करने का पूर्व निश्चित उद्देश्य इन मिथकों द्वारा विस्मृत जातीय गौरव , राष्ट्र-प्रेम एवं सांस्कृतिक स्वमान को पुनर्जीवित

करना था जिसे भारतीय जनमानस शताब्दियों की गुलामी भोगते-भोगते विस्मृत करने लगा था।"[1] इन नाटककारों का लक्ष्य केवल समस्याओं का चित्रण ही नहीं था बल्कि समास्याओं का हल ढूँढ़ने का भी था। सांस्कृतिक गौरव एवं नैतिक चेतना जगाने के लिए भी इस युग में अनेक नाटकों की रचना हुई, इस से स्पष्ट है कि प्रस्तुत युग के नाटककारों ने इतिहास और पुराण की उन्हीं घटनाओं को आपने नाटकों का आधार बनाया जिससे देश-प्रेम की भावना प्रज्ज्वलित हो उठे और त्याग, बलिदान, वीरता का आदर्श पुनःस्थापित कर सकें। आदर्शवादी एवं पुनरुद्धानवादी चेतना से अनुप्राणित होने के कारण इन सभी नाटकों में उपदेशात्मकता का रूप भी विद्यमान है। मिथक के प्रामाणिक मूल स्वरूप की पूर्णतः त्यागकर उसमें अंतर्निहित विचारों को इन नाटकों में संप्रेषित किया गया। लोक-आस्था रखने के कारण मिथकीय नाटक आसानी से सामान्य जनता तक पहूँच सका। नाटकों को पूर्ण रूप से जनसाधारण तक पहूँचाने की भरपूर कोशिश इस युग में हुई - "भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककार अपने समय की समसामयिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधियों के प्रति पूर्णतः सजग थे।अपने समय की यथार्थता का सजीव चित्रण उनके लेखन में व्याप्त है। भारतेन्दु इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे कि सामाजिक सच्चाइयों एवं लोकमानस की सच्ची एवं सार्थक अभिव्यक्ति नाटक में ही संभव है, इसलिए छंदोबद्ध नाटकों की अनुपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने नाटकों के गद्य का प्रवर्तन किया, नाट्य-साहित्य को जीवन से बांध कर भारतेन्दु ने प्राचीन परम्पराओं का युग की नवीन धारणाओं से उचित सामंजस्य स्थापित किया। उनके नाटकों में उनका युग यथार्थ, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में सजीव होकर बोलता है। नाटकों को स्वतंत्र और विशिष्ट अस्तित्व देने का श्रेय इन्हीं को है।"[2] स्पष्ट है कि भारतेन्दु युगीन नाटककार अपने सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक थे। इनका प्रथम उद्देश्य तत्कालीन भारतीय हीनावस्था को सुधारना और देश को आज़ादी दिलाना था। पाश्चात्य संप्रभुता को मिटाने हेतु नाटकों में प्राचीन गौरव को जगाना इनका उद्देश्य रहा। मतलब यह है कि इनका मिथकीय चिन्तन पुनरुद्धान की भावना से प्रेरित था। देश-प्रेम के अतिरेक के

---

1. डॉ.रमेश गौतम-मिथकीय अवधारणा और यथार्थ - पृ.177
2. डॉ. परवीन अख्तर - समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य, पृ.सं.16

कारण मिथकों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर इन नाटककारों की दृष्टि नहीं गयी। सामाजिक दायित्व के प्रति अधिक संवेदनशील होना ही इन नाटककारों का लक्ष्य था। डॉ. प्रभात शर्मा के विचार में -"भारतेन्दु युगीन नाटककार इतिहासपरक नाटकों की रचना दो आधारों पर की, प्रथम, अपनी वर्तमान सामयिक समस्याओं का हल इतिहास के माध्यम से ढूँढ़ने के लिए, यह दृष्टिकोण युगीन समाज सुधारवादी नवोत्थान चेतना के कारण पैदा हुआ। इस युग का नाटककार अतीत के माध्यम से वर्तमान के प्रसंगों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। द्वितीय, ऐतिहासिक चरित्रों के आधार पर उच्च भारतीय आदर्शों की पुनःप्रतिष्ठा तथा नवीन युग चेतना को प्रतिभासित करने के लिए। इतिहास का यह दूसरा आधार इसलिए अपनाया गया क्योंकि इस युग का नाटककार जनता को नैतिक स्तर पर आदर्शवान बनाना चाहता था। वह अतीत के ऐसे चरित्रों को सजीवता से प्रस्तुत करता है, जो कि युगीन संदर्भों में सार्थक और अनुकरणीय जान पड़ते हैं। इसी कारण इन नाटकों में उन्हीं चरित्रों एवं घटनाओं को आधार बनाया गया है जो त्याग, बलिदान और राष्ट्रीय हित चिंता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।"[1] निष्कर्ष रूप में भारतेन्दु युगीन नाटककारों का रुख युगीन पुनरुत्थानवादी चेतना को जगाना था। वर्तमान की प्रासंगिकता को ही अतीतकालीन चेतना में इन नाटककारों ने दृष्टिगत कराया।

प्रसादयुगीन नाटकों में मिथक और यथार्थ

भारतेन्दु के बाद हिन्दी-नाट्य जगत में जयशंकर प्रसाद केआविर्भाव ने एक नया अध्याय ही जोड़ दिया। उन्होंने मुख्यतः नाटक को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन माना था। प्रसाद युग भी भारत में पुनर्जागरण का युग था। उन्होंने अतीत के आदर्शों को युगीन सन्दर्भ में प्रस्तुत किया और नाटक को नया जीवन एवं नई दिशा प्रदान की। "प्रसाद का युग राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक दृष्टि से उथल-पुथल तथा क्रांति का युग था। एक ओर भारतवासी बाह्य-आडम्बर, विदेशी सभ्यता से प्रभावित हो अपनी संस्कृति की उपेक्षा कर रहे थे,

---

1. डॉ. प्रभात शर्मा- हिन्दी नाटक इतिहास दृष्टि और समकालीन बोध, पृ.सं.80

तो दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन से भारतीय संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयास तथा पश्चिमी सभ्यता का खोखलापन उजागर किया जा रहा था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रसाद जी ने नाट्याभिव्यक्ति को मुख्य माध्यम बनाया तथा अप्रत्यक्ष रूप में ही उस युग की समास्याओं को सुलझाने का प्रयास किया। दर्शक समुह को ऐसा मनोरंजन दिया जो सोद्देश्य था, चिरस्थायी प्रभाव छोडने वाला था।"[1] प्रसाद के नाटकों में भारत का अतीत अपने भव्य रूप में प्रस्तुत हुआ है क्योंकि प्रसाद भारतीयता के पूजारी थे। इतिहास उनके नाटकों का मूल बिन्दु है। उन्हें इतिहास के गम्भीर अध्येता एवं मर्मज्ञ विद्वान के रूप में देखा गया है। वह रंगमंच के लिए नाटक लिखने के पक्षपाती नहीं थे। उनका विचार था कि नाटक के लिए रंगमंच की रचना होनी चाहिए न कि रंगमंच के लिए नाटक। लेकिन उनके नाटकों में रंगमंच के अनुकूल अनेक गुण विद्यमान हैं। नाटककार के रूप में इस प्रकार प्रसाद ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके सभी नाटकों में अतीत को माध्यम बनाया गया है। उन्होंने इतिहास की काल्पनिक पुनर्रचना करके वर्तमान परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम बनाया- "प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास का जीर्णोद्धार कर प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को भव्य रूप प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त अतीत के चित्रण द्वारा उन्होंने पराधीन राष्ट्र के निवासियों को राष्ट्रीयता और एकता का सन्देश दिया है।"[2] उनके नाटकों में तत्कालीन भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक सभी परिस्थितियों का सजीव चित्र अंकित हुआ है। उन्होंने मिथक की वास्तविक शक्ति पहचान कर मिथक के यथार्थवादी स्वरूप, सांस्कृतिक विकास को गति प्रदान करने के लिए उपयुक्त समझा। उनके सभी नाटकों में राष्ट्रीय भावना ही चमकी। एक कवि होने के नाते उनके नाटकों में कथिपय जटिलताएँ भी आई हैं। लेकिन इतिहास के प्रति आदर,कवि, दार्शनिक उनके ये तीनों रूप उन्होंने अपनी रचनाओं में दर्शाये हैं। ऐतिहासिक मिथकों में उन्होंने नये मूल्यों को स्थापित किया। इसके व्यावहारिक पक्ष को उजागर करते हुए देश की संकटपूर्ण स्थिति से जनता को अवगत कराया। इस सन्दर्भ में डॉ. बच्च्न सिंह का यह कथन उल्लेखनीय है-

---

1. डॉ. परवीन अख्तर- समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य, पृ.सं. 19-20
2. डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल- हिन्दी नाटक और नाटककार, पृ.67

"आधुनिक भारतीय समस्याओं को दूध-मिश्री की भाँति मिला दिया गया है और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट आस्था उन्हें कहीं भी पंगु बनाकर सडाती नहीं, बल्कि उन्हें युगानुरूप गत्यात्मकता प्रदान करती है।"[1] उनके सभी नाटकों में इतिहास नये-नये अर्थसंवेदनाओं के साथ अभिव्यक्ति पाता है। मिथकीय चेतनाओं से युक्त उनके प्रमुख नाटक हैं 'कल्याणी परिणय', 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'आजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'।

'सज्जन' का कथानक महाभारत कथा पर आधारित है। गंधर्वराज चित्रसेन तो दुर्योधन और उसके मित्रों को बंधी बना लेता है। पाण्डव, दुर्योधन और उसके मित्रों को बन्धन से मुक्त करते है और पाणडवों की उदारता देखकर दुर्योधन लज्जित हो जाता है। 'कल्याणी परिणय' नाटक ऐतिहासिक है इसमें चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को पराजित कर उसकी पुत्री कार्नेलिया से विवाह करता है।'प्रायश्चित्त' नाटक में जयचन्द्र अपने दुष्कर्मों का पश्चाताप करता है। और शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के समय गंगा में डूबकर मरता है। उदात्त एवं शाश्वत मानव मुल्यों को इस नाटक में अभिव्यक्त किया गया है- "राज्यश्री मानवीय करुणा के दिगदर्शन की कथा भूमि है। वैसे तो नाटक का संपूर्ण घटनाक्रम षडयंत्र, विद्रोह, रक्तपात, अपहरण, हत्या, युद्ध, अनैतिक आचरण से भरा पडा है लेकिन इन सब उथल-पुथल से भरे नाटकीय व्यापार में जो स्वर उभरता है वही मुख्य नाटकीय अभिप्राय के रूप में स्थापित हुआ है और वह स्वर है मानवीय करुणा का, क्षमा का, उदारता का और इन सबके रहते लोक सेवा के प्रति संकल्पशील राज्यधर्म का।"[1] 'अजातशत्रु' अन्तर और बाह्य संघर्ष पर आधारित पूर्णतया ऐतिहासिक नाटक है। इसका कथानक मगध, काशी, कोशल और कौशम्बी से सम्बन्धित है। यह नाटक बिंबसार और आजातशत्रु के परिवार कलह को लेकर चलता है। इस नाटक में स्त्री-स्वातंत्र्यय, राष्ट्रीय आन्दोलन, देशप्रेम, प्रशासकीय भ्रष्टाचार एवं सामाजिक संदर्भों के अनेक चित्र अंकित हुए हैं। इसमें गाँधी युग की मूल

---

1. डॉ. बच्चन सिंह- हिन्दी नाटक, पृ.सं.98

2. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृ.सं.15

चेतना को बौद्धकालीन चेतना में देखा गया है। 'स्कन्दगुप्त' गुप्तकालीन राजनीतिक और धार्मिक घातप्रतिघात से सम्बन्धित नाटक है। इसमें प्रेम सम्बन्धी काल्पनिक कथा का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। इसमें युगीन चेतना तीव्रता से व्यक्त हुआ है। 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्दगुप्त, देवसेना, बंधु वर्मा, पार्तदत्त, मातृगुप्त जैसे आदर्श पात्रों द्वारा तत्कालीन जन चेतना को सचेत करने की कोशिश हुई है। 'चन्द्रगुप्त' प्रसाद के अत्यंत उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। इसमें भारतीय संस्कृति की उदात्तता का आख्यान हुआ है। मूल कथानक चन्द्रगुप्त और चाणक्य से संबन्धित है। इस नाटक में अपने युग की समूची राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा गया है। जातीय, क्षेत्रीय एवं वैयक्तिक सीमाओं का उल्लंघन करने का आह्वान प्रस्तुत नाटक द्वारा प्रसाद ने किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में नारी जीवन के जटिल पक्षों की ओर प्रकाश डाला गया है। इतिहास के माध्यम से नारी जीवन की तत्कालीन स्थितियों को उजागर करना इस नाटक द्वारा प्रसादजी का लक्ष्य था। इसमें भी गुप्तकालीन परिवेश है। प्रस्तुत नाटक में प्रसाद जी ने यथार्थवादी दृष्टिकोण से तत्कालीन समस्याओं का स्पष्ट चित्र खींचा है। प्रत्येक साहित्यकार अपने युगीन परिस्थितियों के बीच से ही अपने साहित्य को मुखर बनाता है। प्रसाद के नाटक इस दृष्टि से अत्यन्त प्रभावी सिद्ध हुए हैं।

प्रसाद और उसके युगीन नाटककारों ने अपने सर्वतोन्मुखी प्रतिभा द्वारा अपने युग के नाटकों की दिशा निर्देश किया। यहीं नहीं नाटक के क्षेत्र में स्वर्णिम अतीत की रोशनी खींच लाने की कोशिश भी हुई। प्रसाद युग के नाटककारों ने अतीत की ओर पलायन न करके अतीत को वर्तमान के अनुरूप ढ़ालने का सार्थक प्रयास किया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण ही इस युग के नाटकों का मुख्य स्वर है। जनता के राष्ट्रप्रेम को जगाने के लिए अतीत के गौरवान्वित प्रसंगों को अपने नाटकों का विषय वस्तु बनायी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी सक्रिय भूमिका निभाने के लिए भी इन नाटककारों ने आह्वान किया। "प्रसाद का अनुकरण करते हुए इस काल में अनेक नाटककारों ने सामयिक चेतना को आत्मसात कर अनेक नाटकों की रचना की। ऐतिहासिक

चरित्रों और घटनाओं को लेकर यहाँ नाटककारों ने वर्तमान-समाज और जीवन की नस नाडियों में अवरोध पैदा करने वाली समस्याओं को ही उजागर किया है। सामयिक स्थितियों से उत्पन्न सामाजिक असंगतियों को यहाँ रचनाकारों ने आवाज़ दी है। राष्ट्रीय भावना का उत्खनन कर हिंदु-मुस्लिम एकता, देश भक्ति, अछूत्तोद्धार, पराक्रम, उद्भटता आदि भावों की अभिव्यक्ति को यहाँ प्रखर स्वर मिला है।"[1] प्रसाद युग के नाटककारों में बद्रीनाथ भट्ट, राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र, सुदर्शन, जी.पी. श्रीवास्तव आदि प्रमुख हैं।

बद्रीनाथ भट्ट के प्रमुख नाटक हैं 'कुरुवनदहन', 'वेन चरित', 'तुलसीदास', 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गावती', आदि। इन ऐतिहासिक नाटकों द्वारा तत्कालीन समस्याओं का चित्रण किया गया है। राधेश्याम कथावाचक के सभी नाटक पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखित हैं। 'वीर अभिमन्यु', 'परिवर्तन', 'मशीर की हूर', 'कृष्णावतार', 'रुक्मिणी-मंगल', 'श्रवणकुमार, 'ईश्वर भक्ति', 'भक्त प्रह्लाद', 'द्रोपदी स्वयंवर', 'अनिरुद्ध', 'वालमीकि', 'शकुन्तला' आदि उनके प्रमुख नाटक हैं। आगाहश्र कश्मीरी के नाटकों में ऐतिहासिक एवं पौराणिक मिथकों का प्रयोग हुआ है। उनके प्रमुख नाटक हैं 'गंगा-औतरण', 'वनदेवी', 'सीता बनवास', 'मधुर मुरली', 'श्रवण कुमार', 'धर्मी बालक', 'भीष्म प्रतिज्ञा' आदि।

नारायण प्रसाद बेताब ने भी पौराणिक मिथकों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। उनके प्रमुख नाटक हैं, 'महाभारत', 'रामायण', 'पत्नी प्रताप', 'कृष्ण-सुदामा', 'गणेश जन्म', 'शकुन्तला' आदि। माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुनीययुद्ध' नामक एक ही नाटक की रचना की है। चतुर्वेदी जी के समय में प्रस्तुत नाटक को काफी प्रसिद्धि मिल गयी थी। मूल कथा कृष्ण और अर्जुन के बीच का युद्ध है। परंपरा का उल्लंघन भी प्रस्तुत नाटक में हुआ है ताकि युगीन संवेदना और भी सशक्त हो उठे। डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र के प्रमुख नाटक हैं 'शंकर-विजय', 'असत्य संकल्प', 'वासना वैभव' आदि। 'शंकर-विजय' में उन्होंने शंकराचार्य के

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृ.सं.213

मिथक को विषय वस्तु बनायी है। शंकराचार्य को मिथक के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने तत्कालीन धार्मिक स्थिति का सजीव चित्र खींचा है। बौद्धों के जीवन को प्रस्तुत करके अद्वैद की प्रतिस्थापना इसमें की गयी है। असत्य संकल्प में प्रह्लाद के मिथक को आधुनिक संन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है।

सुदर्शन प्रसाद युग के एक सफल नाटककार हैं। उनके प्रमुख नाटक हैं 'दयानन्द', 'अजन्ता', 'सिकन्दर' आदि। 'दयानन्द' आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द के जीवन पर आधारित है। 'सिकन्दर' में सिकन्दर और पुरु के युद्ध का वर्णन है। 'अजन्ता' नाटक में जैन कथा पवन और अन्जना की प्रेम कहानी है। नाटक के क्षेत्र में प्रसाद युग के नाटककारों ने पौराणिक और ऐतिहासिक मिथकों के जरिए राष्ट्र की युगीन समस्याओं की ओर इशारा किया है। उन्होंने मिथक को राष्ट्र की समस्याओं का समाधान हेतु प्रस्तुत किया था। उनके नाटकों में सांस्कृतिक जागृति को प्रधानता दी गई है। डॉ. नीलम राठी के विचार में - "प्रसाद युगीन नाटककारों ने अपने गौरवमय अतीत के माध्यम से वर्तमान विसंगतियों का समाधान खोजने का प्रयास किया है। इस युग के नाटककारों ने स्वछंदतावादी दृष्टिकोण से इतिहास पुराण के मिथकों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन नाटककारों ने अपने समय की जीवनगत समस्याओं के समाधान स्वरूप अतीत को वर्तमान के रूप में मोड दिया है।"[1]

प्रसादोत्तर नाटकों में मिथक और यथार्थ

प्रसाद-युग के पश्चात 1950 से लेकर हिन्दी में कुछ ऐसी नाट्य रचनाएँ सामने आईं जिनमें आधुनिकता की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस दौर में एक नए युग की अनुगूँज होने लगी थी जिससे हिन्दी नाटक और रंगमंच को विशेष प्रोत्साहन मिलने लगा था। कथ्य, शिल्प, भाषा सभी दृष्टियों से आधुनिकता का शुभारंभ इन नाटकों में हुआ- "प्रसाद युग के बाद हिन्दी-नाटक का

1. डॉ. नीलम राठी - साठोत्तर हिन्दी नाटक, पृ.सं.98

नवीन युग प्रारंभ हुआ। वातावरण और जीवन की यथार्थता से हिन्दी नाटककारों को नयी दृष्टि मिली इससे नाटकों की भावभूमि और उनके शिल्प-विधान में आश्चर्यजनक वैविध्य आया।"[1]

प्रसादोत्तर युगीन वातावरण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का भारतीय वातावरण है। इस युग में अधिकतर समस्या प्रधान नाटकों का ही प्रणयन हुआ है। नाटक में अनेक प्रवृत्तियाँ भी पल्लवित होने लगी थीं। केवल नाटक में ही नहीं संपूर्ण साहित्य के क्षेत्र में यह दृष्टिगोचर हुआ। जैसे 'मानवतावाद', 'आदर्शवाद', 'व्यक्तिवाद', 'सुधारवाद', 'समाजवाद', 'साम्यवाद', 'यथार्थवाद', 'बुद्धिवाद','प्रतीकवाद' आदि। धर्म, राजनीति आदि से युक्त समाज को यथार्थ के आयने में दिखाने के लिए नाटककारों ने भी अतीत का प्रश्रय किया है और इसके अंतर्गत वर्तमान समस्याओं की अभिव्यक्ति भी हुई।

व्यक्ति की चेतना इस युग में चर्चा का विषय होने लगीं। उसके इर्द-गिर्द साहित्यकार विशेषकर नाटककार अपनी दृष्टि डालने लगे। चारों ओर जीवन के नये मूल्यों की व्याख्याएँ होने लगी। इस युग के नाटककारों ने पौराणिक-ऐतिहासिक घटनाओं या पात्रों के पुनःसृजन के बजाय उसमें मूल्यों को खोजने एवं उन्हें स्थापित करने की भरपूर कोशिश की। डॉ. नीलम राठी का कथन है - "स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने ऐतिहासिक-पौराणिक एवं लोक मिथकों के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर युग की विसंगतियों और उसमें घुटते मनुष्य के आत्मघाती अंतर्द्वंद्व और मानसिक तनाव व यातना को मूर्त रूप प्रदान किया है। इन नाटककारों का चिंतन मिथककालीन समय की अपेक्षा मूल्यों पर अधिक केन्द्रित रहा।"[2]

प्रसादोत्तर युगीन नाटककारों में विशेष उल्लेखनीय नाम है वृन्दावनलाल वर्मा का। सांस्कृतिक एवं जीवन संबन्धी यथार्थ उनके नाटकों का मुख्य विषय रहा। उनके प्रमुख नाटक है

---

1. डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल - हिन्दी नाटक और नाटककार, पृ.सं.81
2. डॉ. नीलम राठी - साठोत्तर हिन्दी नाटक, पृ.सं.101

'पूर्व की ओर', 'हंसमयूर', 'ललित विक्रम', 'बीरबल', 'झाँसी की रानी' आदि। इन नाटकों में वर्मा जी ने इतिहास को तत्कालीन वातावरण के सजीव चित्र खींचने का माध्यम बनाया है। 'पूर्व की ओर' नाटक में आर्य संस्कृति के आगमन द्वारा पूर्वकालीन भारत के उपनिवेश को प्रस्तुत किया गया है। 'हंसमयूर' में आर्य संसकृति के समन्वय वादी दृष्टि चित्रित की गयी है। ललित-विक्रम में उत्तर वैदिक कालीन वातावरण है। 'बीरबल' में अकबर कालीन वातावरण तो है लेकिन बीरबल को नए ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है। 'झाँसी की रानी' में 1857 की स्वतंत्रता संग्राम सेनानी लक्ष्मी भाई और गदर के संचालकों का चरित्र है। इन नाटकों से स्पष्ट है कि वर्मा जी ने उत्तर वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के मिथकों के जरिए वर्तमान काल के यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है।

इस युग के एक अन्य प्रमुख नाटककार हैं- सेठ गोविन्द दास। मिथक को केन्द्र में रखकर लिखे गए उनके प्रमुख नाटक है 'कर्तव्य', 'कर्ण', 'हर्ष' 'शशिगुप्त', 'कुलीनता', 'शेरशाह', 'भारतेन्दु', 'वल्लभाचार्य', 'रहीम', 'महात्मागाँधी' आदि। प्रस्तुत नाटकों में नाटककार ने नवीन मान्यताओं एवं खोजों की स्थापना करने की कोशिश की है। उनके नाटक मुख्यतः राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत हैं। मानव मन में उपस्थित तनाव एवं कुण्ठा इन नाटकों में देख सकते है। स्त्री पात्रों को सशक्त आदर्शवादी पात्र के रूप में चित्रित किया गया है। हर्ष जैसे इतिहास पुरुष के जरिए एक आदर्शोन्मुख समाज की संकल्पना भी प्रस्तुत नाटकों में हुई है। उनके नाटकों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा आर्थिक स्थितियों का सजीव चित्र अंकित हुआ है।

श्री उदयशंकर भट्ट प्रसादोत्तर युग के प्रमुख नाटककार हैं। ऐतिहासिक एवं पौराणिक मिथकों से युक्त उनके प्रमुख नाटक हैं 'विक्रमादित्य', 'विद्रोहिणी अम्बा', 'सागर-विजय',

'मुक्तिपद', 'शंकरविजय' आदि। उन्होंने अपने इन नाटकों में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक उत्थान की घोषणा की है। व्यक्ति के बदले देश को ज्यादा महत्व देने की घोषणा भी इसमें है। उनके सभी मिथकीय पात्र युग-जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव जीवन का आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष और समस्याओं की सुन्दर अभिव्यक्ति करने में उदयशंकर भट्ट सफल सिद्ध हुए हैं।

गोविन्द वल्लभ पंत इस युग के प्रतिभाशाली नाटककार हैं। 'वनमाला', 'ययाति', 'अन्तःपुर का छिद्र', 'राजमुकुट' आदि पौराणिक ऐतिहासिक मिथकों से युक्त नाटक हैं। अपने नाटकों में उन्होंने जीवन की गहरी उलझन एवं समस्याओं को सूक्ष्मता के साथ चित्रित करने की कोशिश की है।

समस्या नाटककार के रूप में विख्यात लक्ष्मीनारायण मिश्र ने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की भी रचना की है। मिथकाश्रित उनके प्रमुख नाटक हैं, 'गरुडध्वज','नारद की वीणा', 'दशाश्वमेध', 'वत्सराज', 'वितस्ता की लहरें' आदि। सांस्कृतिक महत्ता एवं प्राचीन राष्ट्रीय गौरव इन नाटकों में उभरकर आया है। जीवन की विभिन्न समस्याओं को हमारे सम्मुख रख कर नैतिक मूल्यों की रक्षा करते हुए समस्याओं एवं विडम्बनाओं से बचने की प्रेरणा अपने नाटकों में उन्होंने दी है। मिथकीय पात्रों की समग्रता को आसानी से उन्होंने व्यक्त किया था।

डॉ. रामकुमार वर्मा प्रसाद युग के एक प्रमुख नाटककार हैं। मुख्य रूप से उन्होंने इतिहास को अपने नाटकों की विषय वस्तु बनायी है। 'विजय पर्व', 'पृथ्वी का स्वर्ग', 'कला और कृपाण', 'अग्नि-शिखा', 'कुंती का परिताप' आदि उनके प्रमुख नाटक हैं। इन नाटकों में उन्होंने राष्ट्र के नवनिर्माण, नारी-जीवन की समस्याएँ, अहिंसा आदि को प्रश्रय दिया है। उनके पात्र यथार्थ की भूमि पर खडे होकर आदर्श की व्यंजना करते हैं। उनके नाटकों में तत्कालीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति की मनोरम झाँकी उपलब्ध होती है।

प्रसादोत्तर युग में नाटककार नवीनता की ओर उन्मुख हुए थे। समाज की ओर वे जितने उन्मुख हुए थे उतने ही व्यक्ति के स्वाभाविक चित्रण में भी वे उन्मुख हुए थे। अनेक सामाजिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटक इस युग में लिखे गए। द्वितीय विश्वयुद्ध की भयंकरता ने हर व्यक्ति में असुरक्षा एवं अनिश्चयात्मकता का भाव पैदा किया था। उनका जीवन पहले से अधिक संघर्ष में पड गया। भौतिक लालसा इतनी तीव्र हो गयी कि नैतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन होने लगा। इस युग के नाटककारों ने इतिहास के अंश मात्र लेकर इसी मूल लक्ष्य को प्रस्तुत किया। उन्होंने मिथकों को पूर्ण रूप से वर्तमान में खडा करके आधुनिक समस्याओं एवं संदर्भों से जोड़ा और व्यक्ति एवं समाज की आंन्तरिक एवं बाह्य वृत्तियों को विश्लेषित किया।

स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में मिथक और यथार्थ

स्वतंत्रता के पश्चात का भारतीय वातावरण अनेक अंतर्विरोधों से ग्रस्त हुआ था। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय जनता एक आदर्श समाज की कामना कर रही थी वहाँ मानवीय मूल्यों का विघटन होता हुआ दिखाई दिया। जनता की आशा एवं आकांक्षाओं पर दरारें पड़ गयीं थीं। भारत की ऐसी स्थिति ने तत्कालीन साहित्यकारों को स्वाभाविक रूप से उत्तेजित किया। नाटक के क्षेत्र में क्रान्ति ही उत्पन्न हुई थी। राजनीति, धर्म आदि क्षेत्रों में भ्रष्टाचार फैल गया जिससे आम जनता दब गयी। लेकिन समाज का उच्च वर्ग इससे लाभान्वित होता गया। डॉ. देव किशन चौहान का मंतव्य है - "राजनीति में भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद के कारण इस आज़ादी से एक अल्पसंख्यक वर्ग-विशेष ही लाभान्वित हुआ है। राजनीति के धुरंधार, साधारण जनता को कभी समाजवाद लाने, कभी गरीबी हटाने, कभी भूमि सुधार तथा बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा करके भ्रमित करने में सफल रहे हैं तथा इस प्रकार की आकर्षक घोषणाओं से सत्ता पर आधिपत्य जमाए रहे हैं।"[1] समाज में अहम जरूरतों की अनुपस्थिति ने युवा पीढ़ी को विद्रोही बनाया। स्वतंत्रता के पश्चात भारत का शासन कांग्रेस के हाथों में आ गया। लेकिन सामाजिक परिस्थितियाँ

---

1. डॉ. देवकिशन चौहान - समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना - पृ.98

कठिन होती गयीं। सत्ता हस्तांतरण के बाद भारत का राष्ट्रीय एवं सामाजिक वातावरण और भी बदत्तर स्थिति की ओर गया। शासक और जनता के बीच की दूरी बढ़ती गयी। शासन ने जनता में असुरक्षा का भाव पैदा किया। बैंको का राष्ट्रीयकरण एवं जमींदारी उन्मूलन आदि कार्य शासन कर्ताओं ने किया लेकिन जनता की आवश्यकताएँ इसमें सीमित नहीं थीं। आम जनता की बुनियादी आवश्यकताएँ अनदेखी कर दी गयीं। ऐसी स्थिति ने आम जनता में विद्रोह एवं आक्रोश पैदा किया। देश नई-नई समस्याओं की ओर जाने लगा। ऐसी अवस्था ने तत्कालीन साहित्यकारों को बहुत आधिक प्रभावित किया। स्वतंत्रता पूर्व के वातावरण से मुक्ति पाकर साहित्यकारों ने समाज का यथार्थ चित्रित किया। जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश और लक्ष्मी नारायण लाल स्वातंत्र्योत्तर युग के प्रारंभिक दौर के सशक्त नाटककार है।

जगदीश चन्द्र माथुर और उनकी नाट्य रचनाए

स्वातंत्र्योत्तर काल का पहला उल्लेखनीय नाटक है 1951 में जगदीश चन्द्र माथुर द्वारा रचित 'कोणार्क'। इस नाटक में माथुर जी ने इतिहास के तहत मानवीय अन्तःसंघर्षों का भावात्मक एवं यथार्थ चित्र को प्रस्तुत किया था। उडीसा में स्थित सूर्यक्षेत्र कोणार्क के निर्माण एवं विध्वंस के मिथक में साम्राज्य शाही के विरुद्ध जनता की महान शक्ति को जगाया गया है। प्रगतिशील चिंतन इस नाटक द्वारा व्यक्त हुआ है। एक बीते हुए सन्दर्भ में समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण इस नाटक में हुआ है। नाटक में विशु और धर्मपद के चरित्रों द्वारा शताब्दियों से पीडित, उपेक्षित जनता की चेतना को वाणी मिली है। इस पर गिरीश रस्तोगी का विचार है -" कोणार्क की अभिव्यक्ति मोहभंग की है, अक्रोश और पुरुषार्थ की है। वह एक सम्पूर्ण विद्रोह है जनमानस का, जनशक्ति का, दमनकारी व्यवस्था के आतंक के प्रति। इसलिए उसे लघुता की शक्ति के विरुद्ध विद्रोह कहा गया।"[1] संघर्ष की शक्ति का इस नाटक द्वारा व्यक्त किया गया है। आम जनता की शक्ति एवं संघर्ष को इसमें वाणी मिली है। कला की एकान्त साधना की महत्ता भी

1.गिरीश रस्तोगी- हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, पृ. 112

नाटक में दिखायी गयी है। यथार्थवादी नाट्य परंपरा का यह पहला नाटक है। वस्तु-विधान और चरित्र विधान में इस परम्परा के सर्वोत्तम तत्वों का समावेश इसमें हुआ है।

माथुर जी के अन्य प्रमुख नाटक हैं 'शारदीय' और 'पहला राजा'।'शारदीया' ऐतिहासिक नाटक है। इसमें प्रेम और सर्जनात्मक प्रक्रिया का प्रश्न उठाया गया है। 'पहला राजा' में भी परम्परा और आधुनिक संदर्भों के मिलन से मानवीय चेतना को उभारा गया है। आधुनिक राष्ट्रीय समस्याओं का प्रस्तुतीकरण इसमें हुआ है। समसामयिक राजनीतिक समस्याएँ, संविधान की कमियाँ, पूँजीवाद से जनता का शोषण आदि युगीन यथार्थ इस नाटक में दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें पृथु के माध्यम से नाटककार ने नेहरू-युग को चित्रित किया है। ब्राह्मणवाद को तोड़ते हुए परम्परा से आनेवाले ऋषि-मुनियों के मिथक को उन्होंने तोड़ा है। युद्ध का परिणाम अवसाद मानते हुए युद्ध के यथार्थ को भी इसमें चित्रित किया गया है। इस नाटक का फलक इतना विशाल है कि समकालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ हमारे सामने एक जीवित चित्र की भाँती दृष्टिगोचर होती हैं। इसके संबन्ध में डॉ. बच्चन सिंह का कथन है- "बौद्धिक स्तर पर लिखा गया यह नाटक बुद्धि और विवेक की माँग करता है। इसमें दर्शकों और नाट्य-प्रयोग में तादात्म्य नहीं स्थापित होता। उसके स्थान पर दर्शक स्वतंत्र ढ़ंग से सोचने विचारने पर बाध्य होता है।"[1]

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर काल के नवयुग का आभास माथुर के प्रथम नाटक 'कोणार्क' में उभारा गया है। 'पहला राजा' भी इस दौर के माहत्वपूर्ण नाटकों की श्रेणी में आता है। इसमें नाटककार ने परम्परा को नया धरातल प्रदान किया है। इस नाटक में महाराजा पृथु की पौराणिक कथा है जो आदिम समाज व्यवस्था से जुडी हुई है। राजतंत्र की स्थापना करके पृथु ही पहला राजा बना था। इस पौराणिक आख्यान को नाटककार ने लिया है। आजादी के बाद भारत में हुए सत्तामोह, सुविधामोह, अनैतिकता, शासक और शासित का संघर्ष सब 'पहला राजा' में दिखाया गया है। पहला राजा मनुष्य को महत्व देता है। वह उस राजनीति को भी नकारता है जो मानव

---

1. डॉ. बच्चन सिंह- हिन्दी नाटक, पृ. 127

जीवन को रिक्तता के बोध से भर देती है। इसलिए यह नाटक व आधुनिकता विरोधी है, न अध्यात्मिक, न मात्र मिथकीय या ऐतिहासिक-पौराणिक। पराज़य-बोध, अमानवीय प्रवृत्तियों, भाग्यवाद, परमुखापेक्षी मनोवृत्ति के स्थान पर यह नायक क्रम, शक्ति, भावना, कल्याण, विश्वास और मानवीय आस्था को व्यक्त करनेवाला नाटक है।

जगदीश चन्द्र माथुर ने अपने इन नाटकों द्वारा मिथकों के शाश्वत सत्य को अत्यन्त प्रतिष्ठित बताया है। इस प्रकार हिन्दी नाटक को विशेष स्थान प्रदान करने में जगदीश चन्द्र माथुर का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतेन्दु ने नाटक को जिस युगबोध से जोडा, प्रसाद ने जिसे विशिष्ट ऐतिहासिक फलक पर सांस्कृतिक गरिमा सम्पन्न बनाया माथुर ने उसे समकालीन मुहावरे में डालकर परंपरा में प्रयोग की प्रतिष्ठा की।

धर्मवीर भारती और उनका अंधायुग

स्वातंत्रयोत्तर नाटकों के क्रम में आनेवाल दूसरा नाटक है धर्मवीर भारती द्वारा रचित गीति नाट्य 'अंधायुग'। आधुनिक हिन्दी काव्य-नाटकों की नयी श्रृंखला 'अंधायुग' से प्रारंभ होता है। 'अंधायुग' के सन्दर्भ में डॉ. नरनारायण राय का यह विचार उल्लेखनीय है- "अंधायुग से हिन्ही काव्य-नाटकों की एक नयी श्रृंखला प्रारंभ होती है। ऐतिहासिक -पौराणिक कथानक के माध्यम से यहाँ समकालीन समस्याओं की अभिव्यक्ति मुख्य उद्देश्य है और इसके साथ ही साथ ऐसा नया काव्य-रूप प्रस्तुत करना भी जिसमें रंगमंचीयता के सभी अवयव सन्निविष्ट हों। यह दोनों ही प्रकार का नयापन 'कोणार्क' से भी है, पर दोनों रचनाओं की अभिव्यक्ति शैली भिन्न है। एक गद्यात्मक है तो दूसरा मुक्त छन्द में लिखा गया कविता के तत्वों से भरपूर नाटक जिसे पद्यात्मक भी कहा गया है। अतः कहा जा सकता है कि नये नाटक के काव्यनाटकों की परंपरा 1955 से 'अन्धायुग' के प्रकाशन से प्रारंभ होती है और अन्धायुग इस श्रृंखला की बीज एवं प्रथम

रचना है।"[1] प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने महाभारत के मिथक द्वारा एक भीषण समकालीन यथार्थ की कटू आलोचना की है। युद्ध इस नाटक का मुख्य कथ्य है। युद्ध मानव जाति के लिए सबसे दर्दनाक आभिशाप है। प्रस्तुत नाटक मानवराशि के लिए एक चेतावनी भी है। नाटक में महाभारत युद्ध के आठारहवें दिन की सन्ध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु-प्रसंग तक की घटनाओं को लिया गया है। 'अंधायुग' में धर्मवीर भारती ने प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात के विनाश एवं क्षयोन्मुखी संस्कृति को अंधेयुग के रूप में दिखाया है तथा उसे महाभारत युद्ध में संदर्भित भी किया। नाटक का केन्द्रीय चरित्र अश्वत्थामा है। इसकी केन्द्रीय संवेदना है युधिष्ठर के असत्य कथन की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा। महाभारत युद्ध के अंतिम दिन में अश्वत्थामा पाण्डव शिविरों में आग लगाता है विनाश और विध्वंस का ताण्डव मचाता है। समाज इस तरह के कई विनाश और विध्वंस से गुज़र चुका है। यहाँ मानव और पशु के बीच की विभाजक रेखाएँ मिट गयी हैं। अश्वत्थामा केवल महाभारत का पात्र नहीं बल्कि संपूर्ण मानव राशि का प्रतीक बनकर हमारे सामने है। इसमें अन्धे युग के प्रतीक के रूप में धृतराष्ट्र एवं गांधारी के अंधेपन को चित्रित किया गया है। युद्ध जन्य विडम्बनाएँ और विसंगतियों की सशक्त अभिव्यक्ति 'अंधायुग' में धर्मवीर भारती द्वारा हुआ है।अन्जान रास्तों में भडकनेवाले मानव राशि को एक उज्ज्वल भविष्य की ओर अग्रसित करने का आह्वान नाटककार ने दिया है। क्योंकि कठिन परिस्थितियों के बदलाव से ही एक उज्वल भविष्य की संभावना हो सकती है। "आज के अन्धकूप में भटकते हुए मानव के लिए अन्धायुग मर्यादा, आस्था और कर्मपरता की ज्योतिर्मय किरणें देने का प्रयत्न करता है। नाटककार ने प्रारंभ में इसकी भावभूमि का परिचय भी दे दिया है। यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से, महाभारत के उत्तरार्ध की घटनाओं को पृष्ठभूमि के रूप में लेकर यह नाटक जिन समस्याओं को उठाता है वे समसामयिक हैं, जो यूद्धोत्तर स्थिति का परिणाम है।"[2]युग यथार्थ की तीखी संवेदना प्रस्तुत करने में धर्मवीर भारती का अंधायुग सक्षम है जो आनेवाले युगों में भी प्रासंगिक रहेगा क्योंकि युद्ध की संभावना हमारे समाज में बरकरार है।

1.डॉ. नरनारायण राय- नया नाटकः उत्भव और विकास, पृ.सं.51
2.इन्द्रनाथ मदान(सं)- हिन्दी नाटक और रंगमंच पहचान और परख, पृ.सं.70

विश्व के चारों ओर मानव के जीवन और मृत्यु के बीच की दूरी को युद्ध ने कम कर दिया है।

मोहन राकेश और उनके नाटक

जगदीश चन्द्र माथुर और धर्मवीर भारती के बाद मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक और रंगमंच के सर्वाधिक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में उभरे। 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे' उनके प्रमुख नाटक हैं। आधुनिक युग के मानव का तनाव एवं विडम्बनाएँ उनके नाटकों का मुख्य विषय रहे हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' की कथावस्तु आधुनिक युग में युग जन्य आर्थिक अभाव एवं सृजनात्मक चुनौतियों को निरन्तर झेलनेवाले एक सृजनकर्मी की है। कालिदास का मिथक ऐतिहासिक न होकर पूर्ण रूप से आधुनिक है। उनका संघर्ष कला, प्रेम एवं शासन आदि क्षेत्रों से है जो आधुनिक मानव पल पल झेल रहा है। नाटक की भूमिका में मोहन राकेश का कथन है - "व्यक्ति कालिदास को उस अंदर्द्वंद्व में से गुजरना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुज़रना पड़ा है, हम भी आज उसमें से गुज़र रहे हैं। हो सकता है कि व्यक्ति कालिदास का यह नाम भी वास्तविक न हो, पर हमारी आज तक की सृजनात्मक प्रतिभा के लिए इससे अच्छा दूसरा नाम, दूसरा संकेत मुझे नहीं मिलता।"[1] परम्परा से चली आ रही नारी की श्रद्धा एवं त्याग नारी की नियति के रूप में नाटक में दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक नारी की स्वाभिमानी व्यक्तित्व भी नाटक की नायिका मल्लिका में दिखाया गया है। मानव की सृजनात्मक शक्तियों के प्रतीक के रूप में कालिदास की प्रस्तुति करके कला के क्षेत्र में सत्ता के हस्तक्षेप को नाटक में दिखाया गया है। इस नाटक के सन्दर्भ में डॉ. बच्चन सिंह का यह विचार उल्लेखनीय है- "आषाढ़ का एक दिन राज्याश्रय और व्यक्ति स्वातंत्र्य के बीच भटकती हुई सर्जनात्मकता की तलाश का नाट्यबिंब है।"[2] मानव जीवन के द्वंद्व को चित्रित करने में यह नाटक सफल हुआ है। कालिदास का ऐतिहासिक मिथक तीखी संवेदना पैदा करने में सक्षम हुआ है।

---

1. मोहन राकेश- आषाढ़ का एक दिन, भूमिका 8
2. डॉ. बच्चन सिंह- हिन्दी नाटक, पृ.सं. 110

'आषाढ़ का एक दिन' के बाद राकेश की नाट्ययात्रा का दूसरा सोपान 'लहरों के राजहंस' है। इसमें भी मोहन राकेश ने आधुनिक मानव की बेचैनी एवं आन्तरिक संघर्ष के यथार्थ की सशक्त आभिव्यक्ति की है। नाटक की मूल कथा अश्वघोष के 'सौन्दर्यनन्द' काव्य पर आधारित है। अस्तित्ववादी दर्शन की प्रस्तुति इसमें मिलती है। नन्द और सुन्दरी जैसे ऐतिहासिक पात्रों में नए जीवनादर्शों एवं मुल्यों की खोज करने की कोशिश नाटककार द्वारा हुई है। आधुनिक मानव की दुविधाग्रस्त स्थिति को व्यक्त करने में यह नाटक सफल सिद्ध हुआ है। गिरीश रस्तोगी के विचार में- "नन्द और सुन्दरी ऐतिहासिक पात्र होते हुऐ भी आज के सन्दर्भ में नितान्त आधुनिक हैं क्योंकि उनके द्वारा आज के मानव की बेचैनी, विवशता और आन्तरिक संघर्ष प्रेषित किया गया है ।"[1] नन्द और सुन्दरी के बीच में होनेवाले संघर्ष में अपने अस्तित्व की खोज में लगे हुए मानव और असमंजसता एवं अनिश्चयात्मकता में घुटता हुआ आज का मानव दृश्यमान है। आधुनिक मानव लहरों में तैरते हुए राजहंस की भाँती है। डॉ. बच्चन सिंह के विचार में- "लहरों के राजहंस में राग-वैराग्य या भौतिक, आध्यात्मिक जीवन की समस्या को एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा गया है।"[2] मोहन राकेश के मिथकीय नाटकों का उद्देश्य सांस्कृतिक पुनरुद्धान न होकर वैयक्तिक संघर्षों को वाणी देना है। उनके मिथकीय चिन्तन इस आधुनिक विचारधारा से ओतप्रोत हैं- "राकेश के ऐतिहासिक अथवा सामाजिक नाटकों का उद्देश्य सांस्कृतिक पुनरुद्धान या राष्ट्रीय जागरण नहीं है। उनके नाटकों में वैयक्तिक अन्तर्द्वद्व को युग सापेक्ष भंगिमाओं में प्रस्तुत किया गया है। अर्थहीन आदर्शवाद का पर्दाफाश कर उन्होंने जीवन में व्याप्त असंतुलन, वैषम्य, अभाव, आक्रोश और कुंठाओं को अपने नाटकों में अंकित किया है।"[3]

लक्षामीनारायण लाल और उनकी नाट्य-रचनाएँ

लक्ष्मीनारायण लाल आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं जिन्होंने सत्तर के पूर्व और सत्तर के बाद भी नाट्य- रचना करके हिन्दी नाटक को समृद्ध करने का

---

1. गिरीश रस्तोगी- हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, पृ.सं.151
2. डॉ. बच्चन सिंह- हिन्दी नाटक, पृ.सं. 116
3. इ. सुरेश चन्द्र शुक्ल- हिन्दी नाटक और नाटककार, पृ.सं. 133

सराहनीय कार्य किया। उन्होंने अपने नाटकों में मिथकों के जरिए सामाजिक यथार्थ की प्रभावशाली अभिव्यक्ति की है। उनके सभी नाटकों में आधुनिक जीवन की विडम्बनाएँ एवं अंर्तद्वद्व को मार्मिक ढंग से चित्रांकित किया गया है- "डॉ. लाल के नाटकों में मानव-जीवन की समस्याओं, द्वद्वों, विरोधाभासों और विद्रूपताओं को विविध समस्याओं का कारुणिक चित्र है, तो कहीं मानसिक रूप से रुग्ण चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कहीं ग्रामीण-जीवन की समस्याओं का चित्र है, तो कहीं अतीत इतिहास में आधुनिक युग-बोध।"[1] स्वातंत्रयोत्तर दौर में लिखे गए उनके दो प्रमुख मिथकीय नाटक हैं 'सूर्यमुख' और 'कलंकी'।

'सूर्यमुख' नाटक का मुख्य विषय अव्यवस्थित एवं मुल्यविहीन समाज का यथार्थ है। महाभारत के मिथक के माध्यम से पीढ़ियों के अंतराल एवं उससे जन्य अंतर्दद्व पर प्रकाश डाला गया है। इस नाटक का स्त्री पात्र वेणुरति कृष्ण के सोलह हज़ार आठ राणियों में एक है। प्रद्युम्न इसका मुख्य पुरुष पात्र है जो कृष्ण का पुत्र है। वेनुरति और प्रद्युम्न के बीच अवैध संबन्ध को इस नाटक में प्रस्तुत करके धर्म-अधर्म, आस्था-अनास्था और आधुनिकता-प्राचीनता के प्रश्न को यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में स्वतंत्रता के बाद के भारतीय वातावरण चित्रित हुआ है। कृष्ण की मृत्यु के बाद द्वारिका की हीन से हीन परिस्थितियों की ओर जाना स्वतंत्रता प्राप्ति को बाद के भारतीय वातावरण को ही व्यंजित करता है जो एकदम अव्यवस्थित एवं अनुशासनहीन बन गया था।

'कलंकी' नाटक में कल्की के मिथक के ज़रिए वर्तमान समाज के यथार्थ एवं युग-बोध की व्याख्या नाटककार ने की है। भारत की धार्मिक मान्यता है कि युग के अन्त में महाविष्णु कल्की का रूप धारण कर भूमि में अवतरित होंगे और विश्व की रक्षा करके सतयुग की स्थापना करेंगे। प्रस्तुत मिथक को डॉ. लाल ने अपनी सृजनात्मक क्षमता द्वारा सामाजिक यथार्थ के कई आयामों की ओर दृष्टि डालने के लिए चुना है। नाटक का केन्द्रीय पात्र अकुलक्षेम है जो एक

---

1. इ. सुरेश चन्द्र शुक्ल- हिन्दी नाटक और नाटककार, पृ.सं.138

निरंकुश शासक है। वह अपने अधिकार और प्रभुत्व बनाये रखने के लिए लोगों को झूठी आकांक्षाएँ देकर उन्हें प्रतिक्रियाविहीन बना देता हैं। लेकिन उनका पुत्र हेरूप इस अन्याय के विरुद्ध विद्वेष एवं विद्रोह की भावना लोगों के बीच फैलाता है। इससे रुष्ट होकर राजा अपने पुत्र को बन्दी बनाते हैं। लेकिन हूणों के आक्रमण से डर कर वे आत्महत्या करते हैं और वीरचरम प्राप्ति की असत्य सूचना प्रसारित करते हैं। वह अवधूत बनकर शवसाधना करके देशवासियों को अपने आतंक में फँसाते हैं। बन्दी बनाया गया हेरूप स्वतंत्र होकर आता है, लेकिन वह कुछ कर नहीं पाता। तन्त्रों के जरिए उसे भी मूक बना दिया जाता है।

प्रस्तुत नाटक में मध्यकालीन लोकचेतना, अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड आदि को आधुनिक सन्दर्भ में दिखाया गया है। फासिज़म, अधिनायकवाद आदि इस नाटक में चित्रित हुए हैं। शवसाधना में स्वत्व विहीन एवं प्रतिक्रियाविहीन समाज की ओर नाटककार ने इशारा किया है। विवेकहीन एवं प्रतिक्रियाविहीन समाज ही फासिज़म का पोषण करता है। भारत में विदेशी शक्तियों के उपनिवेश का कारण भी इस विवेकहीन एवं प्रतिक्रियाविहीन भावना थी। डॉ. लाल का कथन है- "स्वविवेक एवं आत्मनिर्णय से बिचकने वाला भयग्रस्त समाज ही फासिज़म के अवतरण के लिए उत्तरदायी है ऐसा समाज सत्य से, यथार्थ से पलायन का आदि हो जाता है। वस्तुतः उसकी पलायनवादी वृत्ति का ही प्रतिफलन है तानाशाह। इसी वृत्ति से रक्तमांस खींचकर वह गुह्य साधनालीन आवधूत उदित होता है।"[1] सत्ता लोलुप शासक हमेशा समाज को शव बनाने में तुले हुए हैं। लोगों को यह अवगत कराने की कोशिश डॉ.लाल ने की है। यथार्थ से पलायन करके अपने आप में बन्द हो जाना सक्रिय समाज की स्थापना में बाधा डालता है- "नाटककार इस विचार को बलपूर्वक दर्शकों तक पहूँचाना चाहता है कि मानव अपने यथार्थ से पलायन कर स्वर्णिम भविष्य को कभी नहीं पा सकता। वर्तमान से संघर्ष करके ही भविष्य लाया जा सकता है, वह चमत्कार में नहीं, स्वविवेक, प्रबुद्ध चेतना और सत्य के साक्षात्कार में निहित है।"[2] कलंकी का मिथक तंत्रकाल का होकर भी उसमें समकालीन यथार्थ की अनुगूँजें हैं।

---

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल- कलंकी, पृ.सं.106
2. डॉ. सरजु प्रसाद मिश्र - नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल, पृ.सं.106

सभी स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में व्यक्ति और समाज में पनपी तनावपूर्ण स्थिति को दर्शाया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की आम जनता को अशान्ति, अनैतिकता एवं निराशापूर्ण भविष्य ही मिला। स्वतंत्रता के बाद साप्रदायिकता, भ्रष्टाचार एवं व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला। इससे सांस्कृतिक, भौतिक एवं आर्थिक विकास लाने में बाधा हुई। पश्चिमी सभ्यता, विचार और भाषा का ज्ञान ऐसे त्रस्त खण्डित मानव मानस को विघटित करने में सफल सिद्ध हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो स्वार्थपरता, जनकल्याण के नाम पर आत्मतुष्टि एवं पारस्परिक कलह का बीज बोया ऐसी अवस्था में नई पीढ़ी को अपने समाज से जो उम्मीदें थीं, वे व्यर्थ हो गयीं। फलस्वरूप एक अव्यवस्थित, अंधकार में फँसे अंतर्दद्व से ग्रस्त युवा पीढ़ी का निर्माण यहाँ हुआ। अतीत के पात्रों एवं घटनाओं के आधार पर स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने इन समस्याओं को लेकर कई नाटकों की रचना की।

समकालीन हिन्दी नाटकों में मिथक और यथार्थ

समकालीन हिन्दी नाटकों में समकालीन जीवन-यथार्थ की ही आभिव्यक्ति हुई है। अत्यन्त संक्षेप में कहा जाय तो समकालीन समाज आज कई ज्वलन्त समस्याओं का सामना कर रहा है। भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी, मूल्यहीनता, भाई-भतीजावाद, जर्जर अर्थतंत्र, सांप्रदायिकता, नवउपनिवेशवाद, भूमण्डलीकरण के दूषित वातावरण, नारी समस्या, पारिस्थितिक समस्याएँ आदि कई विडम्बनाओं से वह जूझ रहा है। समकालीन नाटककारों ने इन विषयों पर गम्भीरता से सोचा-विचारा और मिथकों के जरिए अपने विचारों को प्रकट किया।

1970 के बाद लिखे गए नाटकों को कई आयामों से देखने के बाद लगता है कि समकालीन नाटक पूर्ण रूप से समकालीन संवेदना अपने में लिए हुए हैं। जब समकालीन नाटकों की चर्चा की जाती है, उसमें उन नाटककारों की रचनाएँ भी आती हैं जो सत्तर के पहले नाटक के क्षेत्र में थे और सत्तर के बाद भी रचनारत रहे हैं। उन रचनाकारों ने अपनी जीवन दृष्टि का

प्रतिपादन किया। उदाहरण के लिए लक्ष्मीनारायण लाल और उनके कुछ नाटक इस श्रेणी में आते हैं। समकालीन समय के तहत उनके नाटकों की चर्चा की जा सकती है। लाल के बाद मिथकीय नाटकों के लेखन में सक्रिय रहे नाटककारों में प्रमुख हैं- सुरेन्द्र वर्मा, शंकरशेष, रमेश बक्षी, दयाप्रकाश सिन्हा, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, नंद किशोर आचार्य, प्रभाकर श्रोत्रिय, मणि मधुकर, नरेन्द्र मोहन, प्रताप सहगल, रेवती शरण वर्मा, डॉ. सरजु प्रसाद मिश्र, सुदर्शन मंजीठिया आदि।

लाल के समकालीन नाटक में मिथक और यथार्थ

समकालीन दौर में लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित मिथकीय नाटक है 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'नरसिंह कथा' (1975), 'यक्ष प्रश्न' (1976) 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' (1976), (1977) 'बलराम की तीर्थ यात्रा' आदि।

'मिस्टर अभिमन्यु' में डॉ. लाल ने महाभारत के अर्जुन पुत्र अभिमन्यु को आधुनिक युग में ला खडा किया है। महाभारत में जिस प्रकार अभिमन्यु चक्रव्यूह तोडकर जाता है और बाहर आने की कला नहीं जानता उसी प्रकार मि.अभिमन्यु भी वर्तमान भ्रष्ट व्यवस्था को तोडना चाहता है। यह चक्रव्यूह मौजूदा भारत की सामाजिक व्यवस्था का भी चक्रव्यूह है जिसके भीतर से चाहकर भी कोई बाहर नहीं आ सकता। वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी भयानक स्थिति तक पहुँच गयी है।

'नरसिंहकथा' आपातकाल में लिखा गया नाटक है। इसमें प्रह्लाद के मिथक के माध्यम से निरंकुश राज्य व्यवस्था तथा प्रजातन्त्री जन-चेतना का संघर्ष प्रस्तुत करते हुए आपातकाल की निरंकुशता, आतंक, हिंसा, व्यक्ति स्वातंत्र के हनन को पौराणिक सन्दर्भों द्वारा प्रामाणिकता

प्रदान की गयी है। प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु का मिथक इसमें सत्ता और जनता के बीच के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। 'यक्ष प्रश्न' महाभारत के एक प्रसंग पर आधारित है। इसमें पाण्डव के मिथक के माध्यम से अनेक समकालीन समस्याओं की ओर नाटककार ने प्रश्नचिह्न लगाया है। आज कोई भी समय के प्रति सजगता नहीं दिखा रहा है। जो लोग समय से अवगत हैं वही कामयाब होंगे। नाटककार का विचार है कि जो अपने समय का उत्तर नहीं देता, वह जिन्दा रहने का अधिकारी नहीं। यथार्थ से पलायनवादी दृष्टिकोण अपने अस्तित्व को नष्ट करने के बराबर है। कोई भी सीधे खडे होकर जीवन का सामना नहीं कर रहा है। सब कम मेहनत और ज्यादा फायदे के पक्षपाती हैं। वर्तमान समाज व्यक्तिनिष्ठता की अपेक्षा समष्ठिगत विचारों का है। अन्ततः उसे व्यक्तिगतता को त्याग कर समय के प्रशनों से जूझना है। इस आधुनिक भावबोध को व्यक्त करने में लाल का यह नाटक सफल हुआ है।

'एक सत्य हरिश्चन्द्र' सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के पौराणिक मिथक पर आधारित नाटक है। पौराणिक मिथक पर आधारित होते हुए भी समसामयिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य इस नाटक में हुआ है। आधुनिक जीवन की विडंबनापूर्ण स्थिति के संन्दर्भ में इन्द्र और हरिश्चन्द्र को देखा गया है और पुराणों में वर्णित हरिश्चन्द्र के कथानक को नवीन अभिव्यक्ति इसमें प्रदान की गयी है।

'बलराम की तीर्थयात्रा' में लाल ने आदमी के अहंनिष्ठ जीवन को चित्रित किया है। आदमी हमेशा पलायनवादी है, समस्याओं का सामना करना नहीं चाहता। इस नाटक का मूल स्रोत श्रीमद भागवत पुराण है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के इन नाटकों का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि मिथक के आवरण में समसामयिक समस्याओं का विश्लेषण करने में उनके सभी नाटक सफल हुए हैं

सुरेन्द्र वर्मा के मिथकीय नाटक

सुरेन्द्र वर्मा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित नाटककार हैं। उनके प्रमुख मिथकीय नाटक हैं 'सेतुबन्ध', 'आठवाँ सर्ग', 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक', 'छोटे सैयद बडे सैयद', 'द्रौपदी' आदि।

'सेतुबन्ध' में सुन्द्र वर्मा ने गुप्तकालीन इतिहास के उपेक्षित प्रसंग से प्रसिद्ध कवि कालिदास, और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती की कहानी का चयन करके समसामयिक मानवीय जीवन की गहन एवं जटिल समस्याओं को वाणी दी है। प्रस्तुत नाटक में यौन-संबन्धों को लेकर स्त्री-पुरुष के रिश्तों का विश्लेषण किया गया है।

'आठवाँ सर्ग' में कालिदास के मिथक के माध्यम से साहित्यकार की अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता की समकालीन स्थिति प्रस्तुत की गयी है। कालिदास के कुमार-संभव के आठवाँ सर्ग में वर्णित शिव-पार्वती की क्रीडाओं के संन्दर्भ में उत्पन्न शील-अश्लीलता की बात से कालिदास पर हुए राजनैतिक दबाव की ऐतिहासिक कथा नाटक में प्रस्तुत हुआ है। इसमें कथा का मूल सरोकार साहित्यकार की अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता और शासन के साथ टकराहट जैसे नाज़ुक मसल हैं।

'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' में नाटककार ने मिथकीय वातावरण में स्त्री-पुरुष के काम संबन्धों का विश्लेषण किया है। इसमें ओक्काक व शीलावती के ज़रिए दाम्पत्य संबन्धों की गहरी व बारीक छानबीन की गयी है। इसमें राजा ओक्काक नपुंसक है। लेकिन राज्य के उत्तराधिकारी बनने के लिए एक युवराज अपेक्षित है इसके लिए महारानी द्वारा धर्मनटी बनकर एक रात के लिए किसी भी नागरिक को उपपति चुनकर नियोग द्वारा संतान प्राप्ति

का रास्ता सुझाया जाता है। इस घटना के बाद शीलावती बदल जाती है और संयोगसुख को माहत्वपूर्ण कहती है। नाटक में स्त्री-पुरुष संबन्धों में दैहिक संबन्ध की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है।

भीष्मसाहनी की मिथकीय नाट्य रचनाएँ

सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को बडी गहराई से प्रस्तुत करनेवाले भीष्म साहनी के प्रमुख मिथकीय नाटक हैं - 'हानुश', 'कबिरा खडा बाज़ार में', 'माधवी', 'रंग दे बसन्ती चोला' आदि। 'हानुश' में सर्जना और सत्ता के टकराव को प्रस्तुत किया गया है। हानुश द्वारा बनाई गयी घड़ी जहाँ निर्माता के पक्ष में सर्जना की प्रतीक है, वहीं वह सत्ता के पक्ष में विवेकहीन एवं, स्वार्थमूलक क्रूरता का निमित्त है। दृढ़ इच्छा एवं संकल्प शक्ति से लंबे वर्षों तक संघर्ष के पश्चात बनायी घड़ी के स्वरूप मिला अंधापन मनुष्यता के नाम पर कलंक है। हानुश द्वारा अपने शिष्य को घडी बनाने के लिए उस देश से बाहर भेज देने में संघर्षशील कलाकार के संघर्ष का विजयी अंत है।

'कबिरा खडा बाजार में' शीर्षक नाटक में नाटककार ने हिन्दी साहित्य के महात्मा कवि कबीर के विद्रोही व्यक्तित्व के ज़रिए मध्यकालीन समस्याओं के आलोक में वर्तमान समय में व्याप्त धर्मान्धता और बाह्याचारों के खिलाफ विरोध प्रकट किया है। "कबीर अमान्य तथ्यों की अपेक्षा आँखन देखी पर विश्वास करते थे। कबीर की पहचान संघर्षों और संघर्षों से जन्मे विचारों में है जो मध्यकालीन होकर भी हमारे वर्तमान से जुड़े हैं। इसलिए कबीर हमारे अतीत और आदर्श ही नहीं, वर्तमान और यथार्थ भी है ।"[1]

---

1. रमेश गोतम - नाट्य विमर्श, पृ.सं. 206

'माधवी' नाटक में भीष्म साहनी ने पौराणिक मिथक के माध्यम से स्त्री अस्मिता का सवाल उठाया है। नाटककार ने इस में नारी की वास्तविक स्थिति को उद्घाटित करने की सराहनीय कोशिश की है। माधवी ययाति की पुत्री है जिसे यह वरदान प्राप्त है कि पुत्रप्राप्ति के बाद भी अनुष्ठान करने पर चिरकौमार्यवती बनी रहेगी। विश्वामित्र का शिष्य गालव गुरु दक्षिणा चुकाने के लिए ययाति से 800 अश्वमेधी घोडा मांगता है। दान देने में असमर्थ ययाति अपनी दानवीरता की छवि बनाये रखने के लिए अपनी एकमात्र पुत्री माधवी को दान के रूप में गालव को देती है। यहाँ पुत्री तो पिता के लिए मात्र प्रतिष्ठा का साधन बन जाती है। किसी भी राजा के पास 200 से अधिक अश्वमेधी घोडो नहीं होते। आठ-सौ अश्व प्राप्त करने के लिए माधवी को यथाक्रम हर्यश्च, दिवोदास, उशीनर तथा विश्वामित्र के पास चक्रवर्त्री पुत्र प्राप्ति के लिए एक-एक वर्ष के अनुबंध पर पत्नी के रूप में रख लेते हैं। पुत्र-प्राप्ति के पश्चात माधवी नारी तथा दान की चीज़ होने की विडम्बना से ग्रस्त अपने पुत्रों के लिए छटपटाती है। अपने प्रेमी तथा पिता के इशारे पर यौवन तथा कौमार्य की बलि चढ़ानेवाली माधवी जब बिना अनुष्ठान किये अपनी यथार्थ स्थिति में गालव के समक्ष आती है तो गालव माधवी को यह कहकर अस्वीकार करता है- "जो स्त्री मेरे गुरु के आश्रम में रह चुकी हो उसे मैं अपनी पत्नी कैसे मान सकती हूँ।"[1] नाटक में नारी जीवन की विडम्बना बडी मार्मिक ढ़ग से उभरती है। वह गालव से कहती है- "यही तो विडम्बना है। संसार तुम्हें तपस्वी और साधक कहेगा मेरे पिता को दानवीर कहेगा और मुझे?"[2] पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी की यही विडम्बना है कि वह पुरुष के ऋण चुकाने का साधन मात्र है। नारी की यह त्रासद स्थिति महाभारत काल में ही नहीं आज भी मौजूद है।

'रंग दे बसन्ती चोला' जालियाँ वाला बाग कांड पर आधारित नाटक है।

---

1. भीष्म साहनी - माधवी, पृ.सं.42
2. भीष्म साहनी - माधवी, पृ.सं. 52

मणि मधुकर की नाट्य रचनाएँ

नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुति दोनों दृष्टियों से प्रयोग की निरन्तर प्रक्रिया से जूझ रहे नाटककारों में मणि मधुकर की खास पहचान है। उन्होंने यथार्थवादी रंगशिल्प के बंधे-बंधाये ढाँचे को शख्सियत देने का जो उपक्रम किया है वह बहुत ही सराहनीय है। 'रसगन्धर्व', 'दुलारीबाई' (1978), 'खेला पालमपुर' और 'इकतारे की आँख' उनकी प्रमुख नाट्यरचनाएँ है। लेकिन मिथकीय प्रयोग की दृष्टि से उनका 'इकतारे की आँख' नाटक ही अधिक चर्चित है। (1975) इसमें नाटककार ने मनुष्य के अस्तित्व की समस्या को आधार बनाया है। उन्होंने अतीत और वर्तमान को एक साथ रखकर कबीर को शोषण के विरुद्ध संघर्ष की एक चेतना का रूप दिया है। कबीर के शब्दों में वे कहते हैं- "जो लोग अन्याय के तले दबते-पिसते धूल हो गये हैं, उन्हें आँधी बनकर ऊपर बैठना होगा।"[1] नाट्यशिल्प की दृष्टि से भी यह एक सफल नाटक है।

'खेला पालमपुर' में लोक मिथक का प्रयोग हुआ है। राजा अपनी आकांक्षा पूर्ण करने के लिए प्रजा का असीमित शोषण करता है। अपने को अमर बनाने के लिए पत्येक दिन एक जिन्दगी को मौत के घाट उतरता देता है। राडा की तरह अधिकारी भी चारित्रिक दृष्टि से पूरी तरह गये-बीते हो गये हैं। नाटक में यह संदेश दिया है कि जन-आक्रोश ही निरंकुश से निरंकुश शासक के आततायी शासन का अन्त कर सकता है।

'रस गंधर्व' ऐतिहासिक व लोक मिथक के प्रतीकात्मक प्रयोग और आधुनिक समाज की स्थिति उद्‌घाटित करने का नाटक है। 'रसगंधर्व' में आये राजा भोज व गंगू तेली प्रसंग ऐतिहासिक मिथक है। गंधर्व प्रसंग लोक मिथक है। गंधर्व देवता और राक्षसों की अवैध सन्तान थी जो दोनों के लिए भोग्य थी। आज की जनता भी गंधर्व की स्थिति में राजनेता व अधिकारी वर्ग द्वारा शोषित की जाती है। नाटक के अन्त में जनता के प्रतिनिधित्व करनेवाले पार्त अ, ब, स और द

---

1. मणि मधुकर - इकतारे की आँख, पृ.सं.61

शोषक के खिलाफ आवाज़ उठाकर गंधर्व बने रहने की अपेक्षा मानव बनकर जीने का संकल्प लेते है - "हम गंधर्व नहीं है। हम मनुष्य हैं और यह मानते हैं कि युद्ध में न देवताओं की विजय होती है, न दानवों की , मनुष्यों के संकल्पों की विजय होती है।"[1]

शंकर शेष और उनकी नाट्य रचनाएँ

तेज़ी व पैनी दृष्टि द्वारा जीवन मूल्यों की स्थापना शंकर शेष के मिथकीय नाटकों की मूल संवेदना है। समकालीन संदर्भ को केन्द्र में रख कर लिखे गए उनके दो प्रमुख नाटक है 'एक और द्रोणाचार्य' और 'कोमल गांधार'। 'एक और द्रोणाचार्य' में उन्होंने द्रोणाचार्य के मिथक के माध्यम से आज की शिक्षा व्यवस्था के खोखलेपन का चित्रण किया है। परंपरा से हटकर द्रोणाचार्य का चित्रण यहाँ एक स्वार्थी, अस्मिताविहीन, सुविधामोही आध्यापक के रूप में हुआ है। आज की उच्च शिक्षण संस्थाओं में ऐसे द्रोणाचार्य बैठे हुए हैं। शिक्षा के औद्योकीकरण के इस ज़माने में शिक्षा बिकाऊ माल है। इसका परिणाम होगा भविष्य में एक विकल समाज का गठन।

'कोमल गांधार' में गांधारी और धृतराष्ट्र के विवाह से लेकर देहावसान तक की कथा को आधुनिक संवेदना से भर दिया गया है। पुरुष प्रधान समाज ने नारी को हमेशा अपने अधिकारों से वंचित किया है। उसकी भावनाओं का हमेशा गला घोंटा है।

रमेश बक्षी और उनका 'देवयानी का कहना है'

रमेश बक्षी के प्रमुख और चर्चित मिथकीय नाटक है देवयानी का कहना है। इसमें उन्होंने पौराणिक पात्र देवयानी के नाम मात्र का उफयोग किया है। स्त्री-पुरुष संबन्ध और नैतिकता की समस्या को नाटक में प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभाव को भी इसके केन्द्र

---

1. मणि मधुकर - रस गंधर्व, पृ.सं.43

में देखा जा सकता है। 'देवयानी का कहना है' में लेखक ने वैवैहिक संस्था पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। इस नाटक की कथावस्तु वैवाहिक मान्यताओं तथा वर्तमान जीवन की एक ज्वलंत समस्या को उभारती है। आर्थिक स्वतंत्रता के कारण आज नारी आश्रित नहीं रही। सामाजिक समानताएँ मिल जाने के पश्चात यह प्रश्न उठा कि क्या स्त्री के लिए विवाह नामक संस्था की आवश्यकता है? क्या यह आवश्यकता है कि नारी अपने जीवन के सुन्दरतम वर्ष विवाह का बोझ ढ़ोने में ही बिता दे?

दयाप्रकाश सिन्हा की 'कथा एक कंस की'

दयाप्रकाश सिन्हा का बहुचर्चित मिथकीय नाटक है 'कथा एक कंस की'। प्रस्तुत नाटक में उन्होंने महाभारत के कंस की कथा को आधार बनाकर आपातकालीन स्थिति की ओर संकेत किया है। निरंकुश सत्ता से पीडित समाज भी इसमें चित्रित है। निरंकुश शासक के निरंकुश बनने या ऐसे शासक के पतन के कारण भी खोजने का प्रयास प्रस्तुत नाटक में हुआ है। कंस स्वेच्छाचारी शासकों का प्रतीक है। लेखक का कहना है- "मैंने कंस के द्वारा उस व्यक्ति तंत्री स्वेच्छाचारी शासकों के निर्माण और विनाश का अन्वेषण किया है जिनका समय-समय पर इतिहास के विभिन्न मोडों पर आविर्भाव हुआ है, चाहे वह कंस हो या औरंगज़ेब या हिटलर या मुसौलिनी।"[1] यह नाटक कंस के पौराणिक मिथक को समकालीन राजनीतिक संदर्भों में अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफल रहा है।

---

[1] दया प्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की, भूमिका

गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो'

गिरिराज किशोर द्वारा रचित बहुचर्चित मिथकीय नाटक है 'प्रजा ही रहने दो'। इसमें नाटककार ने महाभारत युद्ध और उसके दुष्परिणामों के जरिए राजनीति के भ्रष्ट चरित्र तथा युद्ध की अमानवीयता और त्रासद परिणति को दिखाया है। इन्सानी रिशतों में आनेवाली विसंगतियों का यथार्थ चित्रण भी प्रस्तुत नाटक में हुआ है- "इस नाटक में महाभारतकालीन कथानक को समसामयिक परिस्थितियों में चित्रित किया गया है। युगों पूर्व की वे कुटिल लालसाएँ महाभारत का युद्ध समाप्त होने के साथ समाप्त नहीं हुई, मानव की सहज प्रवृत्तियों में घुल-मिलकर वे आज भी किसी-न किसी रूप में आज भी जीवित हैं। गिरिराज किशोर ने महाभारत के उस काल को संवेदना के स्तर पर जिया है और नाटक जैसी सशक्त विधा में उस गहन अनुभव को समसामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।"[1]

नरेन्द्र मोहन की नाट्यरचनाएँ

बदलते हुए परिप्रेक्ष्य की नवीनतम प्रयोगों और रचनात्मक संवेदनाओं को आत्मसात कर अपने नाटकों का बिल्कुल नए अन्दाज़ में प्रस्तुत करनेवाले नाटककार हैं नरेन्द्रमोहन। शब्द और रंग को एक दूसरे में संयोजित करते हुऐ उन्होंने छह नाटक लिखे हैं- 'सींगधारी', 'कहै कबीर सुनो भाई साधो', 'अभंग गाथा' और 'मिस्टर जिन्ना'। इनमें मिथकाश्रित नाटक है 'कहै कबीर सुनो भाई साधो'। इसमें कबीर के ऐतिहासिक चरित्र को उसकी मिथकीय सीमाओं में रखते हुए आधुनिक अर्थवत्ता प्रदान करने की चेष्टा हुई है। इस अतीताश्रित नाटक में अतीत का उपयोग नाटककार ने कबीर के वक्त के हालातों के सामने लाने, ज्ञात अथवा अज्ञात की पुनर्व्याख्या करने या फिर अपनी दृष्टि से इतिहास की नयी व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए कबीर के जुझारू व्यक्तित्व के जुझारूपन को उभारने के लिए किया है। इस नाटक का कबीर मानव तकलीफों के

---

1. डॉ. मिथिलेश गुप्ता - समकालीन हिन्दी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृ.सं.266

इतिहास से पैदा हुआ संघर्ष- नायक है जो जातियों, फिकरों में बंटे समाज के शोषण और जुल्म को अपनी चमडी पर रेंगते महसूस करता है। वह सत्य के आगम पन्थ का सुर बन सामाजिक न्यायऔर मानव सभ्यता के लिए निरन्तर लडता है। मजहबी, फिरकापरस्त, सत्ता, आतंक से निडर होकर लोहा लेने का जज्बा उसमें है। कबीर की वाणी में हर जोर-जुल्म से सत्य और न्याय की लडाई लडने की शक्ति रखती है।

'मिस्टर जिन्ना' में नरेन्द्र मोहन ने मुहम्मद अली जिन्ना के कठोर और मानवीय व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया है। नये तथ्यों के आधार पर जिन्ना के वैयक्तिक और राजनीतिक अन्तर्संबन्ध को इसमें दर्शाया गया है।

नन्द किशोर आचार्य की नाट्य रचनाएँ

कवि, आलोचक एवं नाटककार नन्द किशोर आचार्य ने 'देहान्तर' (1987), 'पागल घर' (1988), 'हस्तिनापुर' (1992), 'जूते' (1992) 'गुलाम बादशाह' (1992) आदि नाटक लिखकर हिन्दी रंग जगत को सक्रिय बनाया है।

'देहान्तर' में ययाति, शर्मिष्ठा, देवयानी और पुरू की पौराणिक कथा के ज़रिए भोगलिप्सा की निर्थकता को दर्शाया गया है। यह समस्या भले ही पौराणिक हो पर समस्या आधुनिक स्त्री-पुरुष संबन्धों को लेकर है। 'हस्तिनापुर' कौरव पक्ष की पराजय के बाद विदुर की माता शुभा और कुन्ती के बीच होनेवाले संवाद पर आधृत नाटक है। इसमें शुभा ने कुरुवंश के मूल कारणों का उद्‌घाटन किया है। प्रकारान्तर से यह नाटक हमारी वर्तमान राजनीति की ओर इशारा करता है। 'गुलाब बादशाह' में बलबन के अन्तरमन की कुण्ठा को नाटकीय युक्तियों के जरिए व्यक्त किया गया है। 'जिल्ले सुभानी' में मुगल बादशाह अकबर के व्यक्तित्व और उनके मानसिक द्वंद्व को आधार बनाया गया है। 'जूते' का आधार अरेबियन नाईट्स की लोकप्रिय कथा है। इस प्रकार यह

देखा जा सकता है कि नन्द किशोर आचार्य के नाटकों की अन्तर्धारा मिथक की है।

प्रताप सहगल का 'अन्वेषक'

समकालीन नाटककारों में प्रताप सहगल का अपना अलग स्थान है। उनका 'अन्वेषक' मिथकाश्रित चर्चित नाटक है। इसमें भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी आर्यभट्ट के व्यक्तित्व को केन्द्र में रखा गया है। आर्यभट्ट अपने समय के सबसे बडे खगोलविद एवं गणितज्ञ थे। उनके बहाने नाटककार ने आज की राजनीति में सत्ता और धर्म के गठजोड़ का पर्दाफाश करने का प्रयास किया है। नाटक में प्रगतिशील शक्तियों के एकत्रित होने की जरूरत पर ज़ोर दिया गया है।

रेवती शरण शर्मा की 'राजा बली की नयी कथा'

रेवती शरण शर्मा द्वारा लिखित 'राजा बलि की नई कथा' महाराजा बलि के दान मिथक पर आधारित नाटक है। इसमें उन्होंने रुग्ण भारतीय समाज के तंत्र परिवेश को प्रस्तुत किया है। नाटक की मूल संवेदना यही है कि समस्त तंत्र भ्रष्टाचार में लिप्त है। इसके चलते आगामी किसी भी काल में किसान को उसकी भूमी नहीं दिलायी जा सकती। नाटक में पति किसान, उसकी पत्नी, ईश्वर आदि प्रतीक है।

दूधनाथ सिंह की 'यमगाथा'

दूधनाथ सिंह का प्रमुख मिथकीय नाटक है 'यमगाथा'। इसमें नाटककार ने पुरूरवा और ऊर्वशी के पौराणिक मिथक को लेकर समसामयिक विसंगतियों को उजागर करने की कोशिश की है। नाटक में पुरूरवा और इन्द्र द्वारा शोषक और शोषित वर्ग की चेतना को वाणी दी गयी है। इसमें उर्वशी एवं पुरूरवा का प्रथम मिलन इन्द्रसभा में कामांग नृत्य के समय दर्शाया गया है। नाटककार ने पुरूरवा के मन में स्त्री-सम्मान एवं गौरव की भावना दर्शायी है। मूलग्रंथों में ऊर्वशी से पुरूरवा प्रेम निवेदन करता है। किन्तु 'यमगाथा' में ऊर्वशी पुरूरवा से स्वयं को स्वीकार

करने का निवेदन करती है। पुरूरवा जब उसे स्वीकार करता है तो उनका स्त्री-उद्धारक रूप जाहिर होता है। नाटककार ने इस नाटक के माध्यम से उन सत्ताधारियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है जो सुनियोजित तरीके से विरोधी पक्ष का अनैतिक संहार करके मानवता का गला घोंट देते हैं।

डॉ. सरजूप्रसाद मिश्र का 'नारद मोह'

'झील के परिन्द' के बाद डॉ. सरजूप्रसाद मिश्र का दूसरा नाटक है 'नारद मोह'। इसमें नाटककार ने शासक वर्ग की सत्तालोलुपता के यथार्थ का चित्रण पुराण के नारदमोह प्रसंग के आधार पर किया है। जिस तरह नारद को अपनी तपस्या के बल पर इन्द्र के सिंहासन को हिला देने का अहंकार हो गया, ठीक उसी प्रकार देश के स्वतंत्रता-आन्दोलन में भाग लेनेवाले हमारे नेतागणों को पहले तो राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का अहंकार प्राप्त हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्हें सत्ता के साथ जुडे आकर्षणों के प्रति मोह हो गया और वे अपनी सेवाओं की एवज़ में ऊँची से ऊँची कुरसी पाने के लिए तिकडम लगाने लगे। ऐसे नेताओं के छल-छद्मों, झूठे वादों, छद्म नारों तथा बेमानी घोषणाओं के खोखलेपन को नाटककार ने नारद, विष्णु तथा स्वयंवर में आये अन्य राजकुमारों के माध्यम से उद्‌घाटित किया है। नारद के मोहभंग की पौराणिक कथा के जरिए आधुनिक महात्माओं और उनके ठोंग का प्रदर्शन करते हुए युगीन विसंगतियों को नाटक में उभारा है। पौराणिक कथा एवं पात्रों को आधुनिक स्थितियों से जोड़नेवाला नया अर्थ अन्वेषित करने में नाटककार कामयाब रहा है।

सुदर्शन मंजीठिया का 'राजा नंगा है'

सुदर्शन मंजीठिया थियेटर की गतिविधियों से सक्रिय रूप से जुडे हुए समकालीन नाटककार है। एक सोद्देश्य रचनाकार के रूप में उन्होंने सामाजिकों तक नाटक को अधिक

प्रभावशाली ढ़ंग से पहूंचाने के लिए रंगमंच को सार्थक माध्यम के रूप में चुना है। 'चौराहे'(1955) 'देश के लिए' (1990), 'राजा नंगा है'(1993), 'छोटे मोटे पिरमिड'(1995), उनकी प्रमुख नाट्य रचनाएँ हैं। 'राजा नंगा है' लोक मिथक पर आधारित रंगमंचीय नाटक है। यह एक प्रयोगात्मक नाटक है। नाटककार ने इस में लोकनाटक के आडम्बरविहीन मंच का प्रयोग किया है जो वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता की अपेक्षा रखनेवाला नहीं है। नेपथ्य से ढ़ोल नगाड़े और तुरही की ध्वनियाँ आती हैं। राजा के आगमन दरबारियों की चापलूसी पद्य-संवादों में हैं। नाटक का सबसे महत्वपूर्ण प्रसंग राजा को निरावृत करने का तथा दरबारियों एवं प्रजाजन द्वारा अस्तित्वविहीन दिव्य वस्त्र की प्रशंसा है। यह अतिरंजना एवं विद्रूप से निर्मित अभिनय का नाटक है।

निषकर्ष

मिथक वह है जो अपने में संस्कृति, चिंतन, अनुभूति तथा धार्मिक मान्यताओं को समेटा हुआ है। भारतीय संस्कृति के आरंभ से लेकर मिथकों की भूमिका महत्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के मूल ग्रन्थ ऋग्वेद इसका प्रमाण है। सामाजिक चेतना की प्रत्येक राहों के साथ बढ़ता हुआ मिथक हर युग में प्रासंगिक है। इसलिए साहित्य में मिथक का समावेश अपने आप होता है। मिथक के प्रयोग से साहित्यकार अपने कथ्य को प्रभावशाली एवं रोचक बनाते हैं। मिथकों का प्रयोग साहित्य को नव आयामों से विभूषित करता रहता है। विश्व का कोई भी साहित्य अपने मातृदेश की मिथकीय परंपराओं से असंपृक्त नहीं है।

हिन्दी साहित्य में मिथकों के प्रयोग की एक लम्बी परम्परा मौजूद है, विशेषकर हिन्दी नाटक में। भारतेन्दु युग से लेकर समकालीन युग तक के नाटककारों ने अपने नाटकों में अतीत की गौरवपूर्ण संस्कृति से भरपूर के माध्यम से समसामयिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया। नाटकों में मिथकों के प्रयोग की परम्परा स्वातंत्र्योत्तर काल में आधिक हुआ

है। फिर भी उसका पूर्वाभास स्वतंत्रता पूर्व के नाटकों में भी देखा जा सकता है। भारतेन्दु और उसके युग के नाटककारों ने इस परम्परा को आगे बढ़ने का रास्ता दे दिया था। भारतेन्दु के नाटक 'नीलदेवी', 'सत्य हरिशचन्द्र', 'अंधेर नगरी' आदि इस दौर के सशक्त नाटक है। प्रसाद और उनके युग के नाटककारों ने मिथक का प्रयोग राष्ट्रीय, सांस्कृतिक पुनरुद्धान के लिए किया।

स्वातंत्रयोत्तर नाटककारों का ध्यान विशेशकर व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य संघर्षों की ओर गया। मानव मूल्यों का नाश होते देखकर इस युग के नाटककारों ने अपने नाटकों में जीवन मूल्यों की स्थापना की कोशिश की। जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश आदि इस युग के प्रमुख नाटककार हुए जिन्होंने मिथकों को नई भूमि प्रदान करने का सराहनीय कार्य किया। 'कोणार्क', 'अंधायुग', 'आषाढ़ का एक दिन' आदि नाटकों में कलाकार का दायित्वबोध युद्ध की विभीषिका, स्त्री-पुरुष संबन्ध आदि आधुनिक समस्याएँ प्रस्तुत करके नाटककारों ने अपने दायित्वबोध का परिचय दिया।

लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों ने भी इस परंपरा को बरकरार रखने का सराहनीय कार्य किया। 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'यक्ष प्रश्न','उत्तरकथा', 'राम की लडाई', 'बलराम की तीर्थ यात्रा' आदि नाटक समसामयिक समाज की त्रासद स्थिति की सशक्त अभिव्यक्ति है। समकालीन युग में लाल के परवर्ती नाटक सुरेन्द्र वर्मा का 'सेतुबन्ध', 'आठवाँ सर्ग', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' आदि बहुचर्चित नाटकों की रचना समाज को विकासोन्मुख व सही दिशा प्रदान करने के लिए किया गया। नये जीवन मूल्यों की स्थापना भी इन नाटकों द्वारा संपन्न हुई। समकालीन नाटकों में अभिव्यक्त मिथक और यथार्थ के ऐतिहासिक अन्वेषण से पता चलता है कि कथ्य और शिल्प की दृष्टि से समकालीन नाटक में मिथकीय प्रयोग की मुख्य रूप से तीन कोटियाँ मिलती हैं।

1. इतिहास पुरुष का प्रश्रय लेकर सामाजिक राजनीतिक गतिविधियों का विश्लेषण करनेवाले नाटक जैसे- 'आठवाँ सर्ग', 'नरसिंह कथा', 'राम की लडाई', 'बलराम की तीर्थ यात्रा', 'एक और द्रोणाचार्य', 'इला', 'कबिरा खडा बाज़ार में', 'हानुश', 'माधवी', 'कहै कबीर सुनो भाई साधो', 'अन्वेषक' आदि।

2. संबंन्धों की अर्थहीनता, अधूरेपन, तनाव और क्रूरता को दर्शाने के लिए लिखे गये मिथकीय नाटक जैसे 'द्रौपदी', 'देवयानी का कहना है', 'सुर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक', 'माधवी', 'इला', 'सेतुबंन्ध' आदि।

3. सकारात्मक मुल्यों की स्थापना के उद्देश्य से लिखे गये मिथकीय नाटक जैसे 'कोमल गांधार', 'बलराम की तीर्थ यात्रा', 'इकतारे की आँख', 'कबिरा खडा बाज़ार में' आदि।

समकालीन नाटकों में प्रयुक्त मिथक को देखकर पता चलता है कि नाटककारों ने युगीन यथार्थ की आभिव्यक्ति के लिए ही अपने नाटकों में मिथक का प्रयोग किया है। इसके लिए उन्होंने मिथकीय कथा की कथ्यगत चेतना में सार्थक परिवर्तन किये हैं। उन्होंने इतिहास, पुराण या लोक साहित्य में से मात्र समकालीन ज़िन्दगी को प्रकाशित करनेवाले अंशों पर ज़्यादा बल दिया है। उन्होंने मिथक का प्रयोग तीन धरातलों पर किया हैं। पहली श्रेणी में वे नाटक हैं जिनके मात्र शीर्षक ही मिथकीय है बाकी समस्त कथा का तानाबाना, पात्र या परिवेश सब आधुनिक है जैसे 'द्रौपदी', 'त्रिशंकु', 'देवयानी का कहना है'। दूसरी श्रेणी में वे नाटक हैं जिनमें मिथकीय कथा के समानान्तर एक आधुनिक कथा चलती है- जैसे- एक और द्रोणाचार्य, राम की लडाई, राजा बली की नयी कथा आदि। तीसरी श्रेणी के मिथकीय नाटक ऐसे हैं जिनमें पात्र, परिवेश सभी कुछ

मिथकीय होते हैं उसी में आधुनिक सन्दर्भ व समस्याएँ उद्‌घाटित होती है जैसे- 'आठवाँ सर्ग', 'कैद-ए-हायात', 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक', 'बलराम की तीर्थ यात्रा', 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' आदि। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी की मिथकीय नाट्य-धारा अत्यन्त संपन्न है।

तीसरा अध्याय

समकालीन मिथकीय नाटक और सामाजिक यथार्थ

प्रस्तावना

समाज एक ऐसी इकाई है जिसमें मानव अपना अस्तित्व बनाये रखा है । समाज के बिना मनुष्य निष्प्राण है । समाज युग सापेक्ष होता है इसलिए युग बदलता है तो समाज भी बदलता रहता है। उसके रहन-सहन, आचार-विचार, मूल्य-व्यवहार भावबोध सब कुछ बदलते हैं । आज की स्थिति यह है कि पूरा विश्व संकट और तनाव के असाधारण समय से गुज़र रहा है । वैचारिकता के प्रति आकर्षण ने समाज में एक क्षयग्रस्त माहौल की सृष्टि की है । आज के युग में मनुष्य बौद्धिक जडता और अनेक प्रकार की संकीर्णताओं से ग्रस्त है । भौगोलीकरण के शिकंजों में जगडा समसामायिक समाज आज के युग का सबसे बडा अभिशाप है । उपभोगवादी संस्कृति पूरी तरह समाज को निगल चुकी है । पूरे विश्व में विचारधाराएँ मान्यताएँ, व्यवस्थाएँ भयंकर विखराव के दौर से गुज़र रही हैं । भूमण्डलीकरण एवं इलक्ट्रोनिक मीडिया ने उपभोक्तावाद की संस्कृति का विकास किया है । जाति, जेंडर, नस्ल, नैतिकता, प्रकृति, पर्यावरण सब कुछ इसमें फँसा हुआ दिखाई देता है । यहाँ तक कि मनुष्य की भावनाओं एवं संवेदनाओं को विस्थापित करने में यह व्यवस्था कामयाब हो रही है । राष्ट्र के सुदृढ़ भविष्य के निर्माता कहे जाने वाले राजनैतिक नेता अपनी कूटनीति से राष्ट्र को एक अंधे भविष्य की ओर धकेल रहे हैं । मनुष्य के निजी जीवन तक को नियंत्रित करने के लिए छद्म यथार्थों का प्रचार यहाँ हो रहा है । ऐसे समाज में एक स्वस्थ पीढ़ी का होना मुश्किल है । विडंबनापूर्ण जीवन जीनेवाली नारी भी इस समाज में सुरक्षित नहीं है । नारी भी वर्तमान अपसंस्कृति की साजिश की शिकार है । वह कहीं भी सुरक्षित नहीं है । लगभग हरेक मनुष्य एक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित है । वह एक खण्डित मानसिकता का शिकार हो रहा है। आगे समकालीन मिथकीय नाटकों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण किया जाएगा। यह विश्लेषण मुख्यतः पारिवारिक जीवन उसके अनुबन्ध में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, नैतिकता, नारी जीवन, नारी अस्मिता आदि बिन्दुओं से संबन्धित है । उन्नीस सौ सत्तर के बाद आनेवाले मिथकीय नाटक जैसे सुरेन्द्र वर्मा का 'सेतुबन्ध', 'आठवाँ सर्ग' , सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक, शंकर शेष का 'कोमल गांधार', दया प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की', प्रभाकर श्रोत्रीय का 'इला', रमेश बक्षी का 'देवयानी का कहना है' नन्द किशोर आचार्य का 'देहान्तर' आदि विशेष उल्लेखनिय हैं । इन नाटकों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने के पहले समकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश की चर्चा करना वाजिब होगा।

भारत का समकालीन सामाजिक परिवेश

भारतीय समाज सदियों पुराना है और जटिल भी । इसके अंदरूनी पहलुओं में जाकर परखें तो इसमें अन्य समाजों से भिन्न अनेक तत्व ऐसे हैं जो यहाँ की अनमोल संस्कृति के परिणाम हैं । भारतीय संस्कृति लगभग पाँच हज़ार वर्ष पुरानी है । इस लम्बी अवधि में यहाँ कई प्रकार की संस्कृतियों का आना-जाना हुआ । इन संस्कारों ने भारत की आत्मा से मिलकर एक नई संस्कृति यहाँ रची । "भारतीय समाज बहुत पुराना और जटिल है । प्रचलित अनुमान के अनुसार पाँच हज़ार वर्षों की अवधि इस समाज में समाहित है । इस लंबी अवधि में विभिन्न प्रजातीय लक्षणों वाले और विविध भाषा-परिवार की कई लहरें यहाँ आकर इसकी आबादी में घुल-मिल गयीं और इस समाज की विविधता, समृद्धि और जीवन्तता में अपना-अपना योगदान दिया।"[1] भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी विविधता । मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाइयों ने एक सभ्य समाज का रेखाचित्र संसार के सामने प्रस्तुत किया । यहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, भौगोलिक वातावरण सभी ने समाज को उच्च मूल्यों के शिखर तक पहुँचाया है । भारतीय समाज को विघटित करनेवाली शक्तियों को सामाजिक शक्ति ने पराजित किया है । नकारात्मक मानवीय मूल्यों को भारतीय समाज ने हमेशा ठुकराया है । लेकिन आज भारतीय समाज में मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है । भारतीय सभ्यता पर गर्व करते समय समकालीन भारत की दुर्दशा पर भी चिन्ता करना ज़रूरी है । भारतीय समाज आज अनेक प्रकार की विद्रूपताओं और विसंगतियों से गुज़र रहा है । मानवीय सभ्यता के विकास का एकमात्र लक्ष्य है मानव कल्याण । लेकिन आज मानवीय विकास ऊपर से नीचे की ओर जा रहा है । भारत की वर्तमान स्थिति यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असमंजसता की स्थिति कायम है । भारत की आत्मा सदियों से विदेशी सत्ता द्वारा कुचली गयी थी । कई

---

1. श्यामाचरण दुबे -भारतीय समाज, पृ. सं. 1

शहीदों के खून से लथपथ होकर भारत को आज़ादी मिली थी । आज भारत की स्थिति ऐसी है कि हर एक इन्सान को समान रूप से जीने का अधिकार नसीब नहीं है । आज भी भारत की आबादी के अधिक प्रतिशत लोग रोज़गार और रोटी से वंचित है । आज़ादी की लडाई में शहीदों की परिकल्पना का भारत आज मूल्यों को खोकर अंधकार में रास्ता तलाश रहा है । क्योंकि स्वाधीन भारत की परीकल्पना में एक भविष्य परिकल्पना थी । लेकिन आस्तित्व की जड़ें खोदने वाले आज की परिस्थिति में भारत इस उज्ज्वल भविष्य से कोसों दूर है । चारों तरफ यही शब्द गूँजता है कि भारत विज्ञान और प्रौद्योगिकी में आकाश छू रहा है । लेकिन यथार्थ इससे बिलकुल अलग है । विकास के नाम पर वैज्ञानिक चेतना से ग्रसित एक शिक्षित समाज की स्थापना विपरीत फल ही दे रही है । राजनीति के क्षेत्र में भ्रष्टाचार पूरी तरह राजनैतिक मूल्यों का ह्रास कर रहा है । वक्त के साथ-साथ इन समस्याओं ने एक विकराल रूप हथिया लिया है । सब लोग अपने रास्तों को तलाशने के लिए कहीं न कहीं भटक रहे हैं। "चिंतन और पतन के कगार पर एक अंधेरी यात्रा पर निकला हुआ यह देश आज परस्पर विरोधाभासों से भरा हुआ है । इसमें एक तरफ नई शताब्दी के विज्ञान के आकाश छूने की तकनॉलजी है और दूसरी तरफ भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, थका हुआ निज़ाम, लंजपुंज प्रशासन, कानून और आधे से ज़्यादा आबादी गरीबी की रेखा के नीचे रहने को अभिशप्त कर दी गई है ।"[1]

धर्म के नाम पर यहाँ मानव जीवन ज़िन्दा जलाए जा रहे हैं, धर्म, जातीयता भाषा और क्षेत्रीय समस्याओं को लेकर यहाँ दंगे होते हैं । लोग मिलजुलकर रहते आए हैं लेकिन समकालीन संदर्भ में उनके अन्तर्मन में नफरत की चिनगारी फूट पड़ी है । आज़ादी के बाद हुए भारत विभाजन ने सांप्रदायिक अनैतिकताओं का बीज बोया। धर्म की गलत व्याख्याओं ने यहाँ बाबरी मज़्जिद का ध्वंस और रामक्षेत्र का निर्माण किया । पंजाब की समस्या भी घोर धार्मिक

---

1. कृष्णाकुमार रत्तू - भारत नींद में संघर्ष, पृ. सं. 1

अनौतिकताओं का कारण बना । आज यह गोधरा हत्याकांण्ठ, नन्दीग्राम और मुंबई आतंक तक पहुँच चुका है ।

धर्म की परिकल्पना वर्णाश्रम व्यवस्था से शुरु हुआ था । पहले यहां सुविधा के लिए समाज को शिक्षा, सुरक्षा, उत्पाद और सेवा आदि चार क्षेत्रों में बाँट दिया गया था । लेकिन बाद में इस व्यवस्था ने ऊँच-नीच का पाठ पढाना शुरु किया । धर्म की परिभाषाएँ समाज की पहली श्रेणी के लोगों द्वारा होने लगीं और उन्हीं लोगों ने समाज के ऊँचे तबके में अपना वर्चस्व स्थापित किया । आज धार्मिक सद्भावनाएँ समाज से दूर हो रही हैं । धर्म का जो आत्म सत्य है वह दूसरे धर्म से श्रेष्ठ होने का दावा कर रहा है । धर्म की यह होड़ धर्म संबन्धी आस्थाओं को छिन्न भिन्न करती दिखाई दे रही है। धर्म के पुरोधा ही यह भ्रष्टता फैला रहा है । "समाज का जो धर्म है, वह समूची जाति की सेवा करता है और उसकी उन्नति में सहयोग देता है । समाज को एक धागे में पिरोने वाला धर्म ही है । इस तरह से धर्म और समाज दोनों एक दूसरे पर आश्रित है । धर्म मानव का दायित्वबोध है । वही कर्तव्य है । आज धर्म संकीर्णता को जन्म दे रहा है और मानव मन में द्वेष, घृणा, शत्रुता आदि को प्रश्रय दे रहा है । तभी तो आये दिन धार्मिक झगड़े हो रहे हैं । इस कारण आज ज़रूरत है कि समाज और धर्म एक होकर मानव जाति के लिए काम करे ।"[1]

राजनीति के क्षेत्र में असंमजसता फैली हुई है । आम जनता की आशा और आकांक्षाओं को अराजकता एवं भ्रष्ट-राजनीती ने दमन करके रखा है । नेता बनने की भूख एवं सत्ता बनाए रखने की भागदौड में सामाजिक जीवन निष्प्राण हो रहा है । स्वतंत्रता के बाद यहां राजनीतिक अनैतिकाओं का आरंभ हुआ भारत में इंदिरा युग तानाशाही एव निरंकुशता का युग था । इस युग में आपातकाल की घोषणा करके जनता को आम ज़िन्दगी से दूर किया गया।

---

1. डॉ. राजेन्द्रमोहन भटनागर - आधुनिक हिन्दी निबन्ध, पृ. सं. 49

वर्तमान राजनीति के पतन का भी मुख्य कारण यह सत्ता-लिप्सा है । नये दलों का बनना, टूटना, भाई-भतीजावाद आज की राजनीति का मुख्य ध्येय है । कहने के लिए भारत परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र है और विकास की ओर उठनेवाले तीसरे राष्ट्रों की श्रेणी में है । लेकिन जनता की बुनियादी ज़रूरतों का निवारण करने में भारत पराजित होता हुआ दिखाई दे रहा है । बेरोज़गारी, उच्च शिक्षा, केन्द्रों की एकपक्षीयता, दलित उत्पीडन, नारी उत्पीडन आदि देश के समाने ज्वलन्त समस्याओं के रूप में खड़े हैं ।

आधुनिक युग में स्त्री अपनी अस्मिता बनाने के बाद भी आम ज़िन्दगी से वंचित हो रही है । आज स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है । समाज के हर क्षेत्र में उसकी आत्मा अपमानित हो रही है । यहां तक कि अपने घर में भी वह सुरक्षित नहीं है । इस सन्दर्भ में अर्चना वर्मा के ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण लगते हैं -"एक स्त्री की हैसियत मेरे लिए इस बात का अर्थ मेरी देह के बोझ, बंधन और निरंतर असुरक्षित होने के अहसास से जुडा है, घर के भीतर से लेकर बाहर सड़क तक, पैदल चलने से लेकर यातायात के सार्वजनिक साधनों के प्रयोग तक निरंतर नोच-खसोट से लेकर अधिक संगीन किस्म के शारिरिक सलूक का वह अनुभव जिसे बलात्कार के विविध स्तरों की तरह देखा और पहचाना जा सकता है, मेरे अस्तित्व की विधि है ।"[1] पुरुष वर्चस्ववादी समाज व्यवस्था स्त्री को आगे बढ़ने से रोक रही है । उसकी मानसिकता से स्त्री के विकास मार्ग में सबसे बडा अवरोध बन रहा है । आज पूरी सामाजिक व्यवस्था पुरुषों से बनी है या पुरुषों से ही चल रही है । वहाँ स्त्री के लिए अपनी कोई जगह नहीं है इसलिए एक ऐसी व्यवस्था की रचना करना ज़रूरी है जहाँ स्त्री के लिए समानता की जगह हो । उसके अधिकारों की रक्षा करने की जरूरत है और स्वतंत्रता का अधिकार भी उसे अनिवार्य है । तभी

---

1. अर्चनावर्मा - स्त्री मुक्ति, देह की राजनीति, हंस अगस्त, 2008, पृ-. सं. 24

एक उच्च मूल्यों से युक्त समाज की रचना संभव है । स्त्री को भी अपने दिमाग को सजग रखने की ज़रूरत है । अपनी अस्मिता को नयी अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए सक्रिय रूप से समाज से जुड़े रहना चाहिए और अपने ऊपर किये जा रहे षड्यन्त्रों से अवगत भी होना चाहिए । "अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए उसे अपनी प्रतीभा और संघर्ष के रास्ते को आगे बढ़ना है । यदि वह संघर्ष के बिना सिर्फ अपनी देह के बल पर आगे बढ़ना है तो बाज़ार के स्वार्थों में प्रयुक्त होने में उसकी अस्मिता तथा स्वतंत्रता खो जायेगी और उसकी अस्मिता की उपलब्धियों को एक खतरनाक और नकारात्मक मोड मिल जायेगा । बाजारवादी शक्तियाँ आज नारी देह का किस तरह उपयोग कर रही हैं, यह किसी से छिपा नहीं है।"[1] इस सन्दर्भ में दलित स्त्री की समस्याओं को भी जोड़ा जा सकता है । प्रभा खेतान के शब्दों में "जातीयकरण, लैंगीकरण एवं यौनिकता, स्त्री को दमन की इन तीनों प्रक्रियाओं, से गुज़रना पडता है । यदि वह जाति में श्रेष्ठ हो, अमीर वर्ग की हो, तब भी लैगिकता एवं यौनिकता के समाजीकरण से बच नहीं सकती ।"[2] समाज में स्त्री होना अभिशाप है लेकिन दलित स्त्री होना उससे भी बड़ा अभिशाप है । दलित समाज की मुख्य धारा से उपेक्षित है । ऐसे कई निरीह मानव भारत की आबादी में है । जंगल की जन-जातियाँ भी भारत की एक सच्चाई हैं जहाँ अभी तक विकास की आँच तक नहीं पहुँची है । वहाँ के बच्चे और स्त्रियाँ रोग और पीडाओं से ग्रस्त हैं । समकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश यही है । विकास के साथ जीवन के सभी-क्षेत्रों में एक प्रकार की तनाव ग्रस्तता है । यह समाज को ऊपर से नीचे की ओर ले जा रहा है ।

समकालीन समाज में व्यक्ति

आज प्रत्येक व्यक्ति ने एक खण्डित मानसिकता को अपने अन्दर कायम किया है ।

---

1. हेतु भरद्वाज - संस्कृति और साहित्य, पृ. सं. 130
2. प्रभा खेतान - उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं.146

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में बौद्धिकता एवं यन्त्र प्रधानता की बढोत्तरी हुई । जीवन को सहज और आसान बनाने के अनेक उपाय खोजने लगे तो समाज को कई तरह के परिवर्तनों से गुज़रना पडा । घोर बौद्धिकता एवं यान्त्रिकता में फँसे आधुनिक मानव ने अपने को नितान्त अकेला, निरीह, अशान्त तथा लाचार अनुभव किया । आज का व्यक्ति 'स्व' में केन्द्रित हो रहा है । वह आज राष्ट्र के हित को नज़र अंदाज कर अपने हित को प्रश्रय दे रहा है । कुण्ठा एवं द्वंन्द्व से ग्रसित समाज की सृष्टि करने में आज की दूषित व्यवस्था सक्रिय भागीदारी निभा रही है । "आज के भारत का व्यक्ति यदि एक ओर पुराने सस्कारों और मान्यताओं से बंधा रहना चाहता है तो दूसरी ओर वह उन परम्परागत संस्कारों को छोड़कर नये संस्कार ग्रहण करने का संघर्ष भी कर रहा है । तीसरी ओर भटककर वह धुरीहीन अनिश्चित आर्थिक वातावरण, युद्ध की आशंका तथा जीवन के दुर्निवार संघर्ष के कारण वह और भी धुरीहीन होता जा रहा है । वह व्यक्तिवादी, निराशावादी, भाग्यवादी, निष्क्रिय और आत्मलीन, आत्मभीरु बनता चला गया है एवं अब भी वह इस स्थिति से बाहर नहीं आ सका है।"[1] समाज की ऐसी स्थितियों ने मनुष्य को संकीर्ण-संकुचित बना के अपनी सारी अर्थवत्ता को खो दिया है । आज पूरी तरह इन स्थितियों में फँसा आधुनिक मानव अपने अस्तित्व को गिरवी रखकर किसी अनजान मंज़िलों को तलाश रहा है । आधुनिक मानव की इस सच्चाई को लक्ष्मीनारायण लाल ने 'यक्षप्रश्न' नाटक में दिखाया है । इसमें महाभारत के एक मिथकीय प्रसंग को आधुनिक संवेदना के लिए चुना गया है । इसमें अपने समय, समाज व देश के प्रति कर्तव्य से पलायन करनेवाले व्यक्ति को दिखाया गया है । अपनी प्यास बुझाने की भागदौड में व्यक्ति अहं केन्द्रित होकर अपना अस्तित्व खो देता है । नाटक में यक्ष द्वारा यह सच्चाई व्यक्त की गयी है । यक्ष-नकुल संवाद देखिए -

---

1. डॉ. शेखर शर्मा - समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक,, पृ. सं. 31

यक्षः जो अपने समय का उत्तर नहीं देता वह ज़िन्दा रहने का अधिकारी नहीं ।

नकुलः तो मृत्यु की ज़िम्मेदारी उस पर है ?

यक्षः क्योंकि जीवन की ज़िम्मेदारी से वह चुप रहा।"[1]

स्वार्थ-पूर्ति के लिए जीना और वर्तमान परिस्थितियों से बचे रहना और चुनौतियों को स्वीकार न करना वर्तमान समाज का लक्षण है । नाटककार ने यह दिखाया है कि समय के प्रश्न का उत्तर देना हमारे लिए अनिवार्य है हम उससे बच नहीं सकते । इस नाटक के सन्दर्भ में डॉ. नीलम राठी का विचार उल्लेखनीय है कि "आज के समाज में फैली विडंबना जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति-छात्र, राजनेता और उद्योगपति सब के सब भौतिक सुख साधनों की प्राप्ति के लिए छोटे मार्ग से जा रहे हैं । सच्चाई, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा उनके लिए महज एक वायवी कल्पना रह गयी है । सम्पूर्ण समाज पतनावस्था की चरम सीमा पर पहुंच चुका है । आधुनिक पात्रों के माध्यम से शिक्षा व्यवस्था, राजनीति व समाज में हर तरफ भ्रष्टाचार दर्शाकर अंत में उन अर्जुन देव जैसे नेता, भीम वर्मा जैसे उद्योगपति, सेन जैसे कुलपति एवं सहदेव जैसे छात्र नेता को भी अंततः सत्यप्रिय जैसे व्यक्ति व जनता के समक्ष प्रश्नों के कटधरे में खडा होना पड़ता है ।"[2]

वैश्वीकरण के इस दौर में यांत्रिक बने मानव एक नए संस्कार को आत्मसात् किए हुए है । सभ्यता और संस्कृति के कई आयाम वैश्वीकरण प्रदान कर रहा है । व्यक्ति अपनी पहचान भी बदल रहा है । लेकिन मनुष्य की स्थिति संकटग्रस्त और क्षीण अधिक हो रही है, उसके जीवन में एक प्रकार की यांत्रिक जडता पनप चुकी है । हर एक ने अपने में सीमित होकर अपने और दूसरों के जीवन में संघर्ष की स्थिति पैदा की है । मानव मन से स्नेह, सहानुभूति, ममता

---

1. लक्ष्मी नारायण लाल, यक्ष प्रश्न पृ. सं. 62-63
2. नीलम राठी - साठोत्तर हिन्दी नाटक. पृ. सं. 95

जैसी कोमल भावनाएँ बैद्धिक जीवन के चमकील रंगों में डूब चुकी हैं । सामाजिक मूल्यों में विघटन की स्थिति पैदा हुई है । इस नव-संस्कृति ने समूचे विश्व को अनिश्चय की स्थिति में ला खडा किया है । इस प्रकार की व्यस्तता और सांस्कृतिक परिवर्तन ने जीवन के बहुत सन्दर्भों को दुविधा ग्रस्त बना दिया है । "जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में निरन्तर उतार-चढ़ाव की स्थिति देखने को मिल रही है । सभ्यता और संस्कृति के आयाम परिवर्तित हो रहे हैं । आर्थिक क्षेत्र में विज्ञान के प्रभाव के कारण क्रान्ति हो रही है । यंत्र-युग के कारण मनुष्य की स्थिति गौण हो गई है और जीवन में यांत्रिक-जडता प्रवेश पाती जा रही है । मानव का स्थान यांत्रिक मानव ले रहा है । सामाजिक जीवन-मूल्य और पारस्परिक सांस्कृतिक अवधारणाएँ टूट रही हैं । अंधविश्वासों का अन्त हो रहा है । वैज्ञानिक विश्वास पनप रहे हैं । सामाजिक सम्बन्धों में विश्रृंखलता की स्थिति उत्पन्न हो गई है । घर, परिवार, माता-पिता आदि का महत्व तेजी के साथ घटता चला जा रहा है।"[1] आधुनिक समाज की इन सच्चाइयों को मिथकीय बिम्बों द्वारा प्रस्तुत करते हुए सुरेन्द्र वर्मा ने 'आठवाँ सर्ग' द्वारा आधुनिक मानव के द्वन्द्व एवं कुण्ठा को दर्शाने की कोशिश की है । नाटक का मुख्य पात्र कालिदास आधुनिक मानव का प्रतिनिधित्व करता है । उसके शब्दों में आधुनिक मानव की कुण्ठा एवं निरीहता मुखरित है - "मेरा आक्रोश है रचना की इस प्रकृति पर... कि यह अपने आप में संपूर्ण नहीं है .... यह संप्रेषण और तादात्म्य चाहती है... हालाँकि अब मैं पर्याप्त उदासीन हूँ... और चाहता हूँ कि यह अनुभूति बढती जाए । शायद इसी का परिणाम है यह.. कि लिखना था इन्दुमति का स्वयंवर अज के साथ उसका विवाह..... जीवन में चाह और आस्था का सर्ग... पर जब कोई भोजपत्र की चुनौती सामने आयी तो लिखने लगा... इन्दुमती की मृत्यु के बाद अज का विलाप।"[2]

---

1. डॉ. शेखर शर्मा - समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक,, पृ. सं. 37
2. सुरेन्द्र वर्मा - आठवाँ सर्ग, पृ. सं. 73

व्यक्ति तो परिवार एवं समाज में अपने को अकेला महसूस कर रहा है । हर एक अपनी बनाई दुनिया में जीने के लिए विवश हो रहा है । व्यक्ति सम्बन्धों की ऊर्वरता भी सूख चुकी है । उसको खुले-आम सोचने-विचारने तक का स्वातंत्र्य निषिद्ध होता हुआ दिखाई दे रहा है । कालिदास इस अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है । 'कथा एक कंस की' में दयाप्रकाश सिन्हा ने कंस के मिथक में निरंकुश शासकों की नियति को व्यक्त किया है । इसमें कंस एक निरंकुश एवं अत्याचारी शासक है । निरंकुश शासक बन जाने के पीछे कई कारण भी हैं । यह एक सर्वमान्य सत्य है कि हर एक व्यक्ति का संस्कार उसके घर से ही शुरु होता है । यहाँ कंस के विकल व्यक्तित्व का कारण उसके पिता ही है । सभी ओर से अपमान एवं उपेक्षा ही उसे सहना पडा था । कंस में अन्तर्निहित एस मामूली इनसान की छवि को उसी के शब्दों के ज़रिए आँका जा सकता है -

"उग्रसेनः कंस तुम्हें कौन सा हथियार सबसे अधिक प्रिय है ?

कंसः जी ?

उग्रसेन : तलवार, धनुष-बाण, भाला, शूल, वज्र, गदा, उत्तर दो ।

कंसः हमें ?

उग्रसेनः क्या सर्वप्रिय है ?

कंस : वीणा ।

उग्रसेन : वीणा ?

कंसः हाँ पिता महाराज, वीणा मुझे सर्वप्रिय है ।"[1]

ऐसे भावुक और कोमल मन वाला कंस उपेक्षा और अपमान से जनित प्रतिशोध की अग्नि को तीव्र करके अपने पिता को बन्दी बनाता है और राज्याधिकार पर कब्जा भी कर लेता

---

1. दया प्रकाश सिन्हा, - कथा एक कंस की, पृ. सं. 48

है । एक साधारण इनसान का असाधारण बन जाना नाटक में द्रष्टव्य है । वर्तमान मानव के गुण-दोष को भी इसमें दिखाया गया है । मानव की बदल रही मानसिकता भी कंस में देख सकते हैं । वैयक्तिक सम्बन्धों का बिखराव भी इसमें दृष्टिगोचर होता है ।

> "कंस : कवि है, स्त्रियों के कंकण पहनकर केवल वीणा बजाने योग्य । क्लीव, कापुरुष, डर से कपडे गीले करने वाला कंस आज, पिता महाराज, आपके जीवन का नियामक है ।
>
> कंसः पिता महाराज मैने सौगन्ध खायी थी, आपके उपहास और विद्रूप में विकृत होठों पर एक दिन क्षमा-याचना होगी । आज वह दिन आ गया है । पिता महाराज, क्षमा माँगिये । सुना नहीं आपने ! पिता महाराज क्षमा माँगिये मेरे धैर्य की परीक्षा मत लीजिए ? क्षमा माँगिये ! माँगिये !"[1]

वर्तमान युग में मानव की व्यापक व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना ने उसे अत्यंत स्वकेन्द्रित बना दिया है । वह अपने ही कार्यों में व्यस्त है । कोमल गांधार में शंकर शेष ने दुर्योधन को भी आधुनिक मानव के परिप्रेक्ष्य में दर्शाया है । वह किसी भी प्रकार के समझौते के लिए तैयार नहीं होता । अनुकूल परिस्थिति न मिलने के कारण उसका व्यक्तित्व विफल हो जाता है । इसलिए युद्ध क्षेत्र में आखिरी साँस लेते वक्त दुर्योधन संजय से कहता है "प्रेम से कोई बिगडता है काका ! हमें तो मां-बाप ने केवल अस्तित्व दिया, हमारी रचना नहीं की ।"[2] चारों तरफ से दुर्योधन टूटे हुए थे । वर्तमान समय में व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र अशान्ति के माहौल में जी रहे हैं । आधुनिक मानव के सत्ता मोह भी आपस में घृणा, प्रतिहिंसा और अन्याय को बढ़ावा दे रहा है । दुर्योधन इन सब का प्रतीक बनकर नाटक में चित्रित हुआ है । आधुनिक युग में व्यक्ति उसकी अस्मिता, पहचान और दृष्टि में छोटी पड़ती जा रही है । युद्ध क्षेत्र में दुर्योधन

---

1. दयाप्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की , पृ. सं. 40
2. शंकर शेष - कोमल गांधार, पृ. सं. 69

की दयनीय मृत्यु इसको सूचित करता है । दुर्योधन के शब्दों में यह सच्चाई सामने आता है ।

"दुर्योधनः मेरी जांघ से रक्त बह रहा है, मेरा शरीर लहुलुहान है... पर मन यात्रा कर रहा है असीम में । इस अन्तिम क्षण में सिंहावलोकन हो रहा है पूरे जीवन का । आखिर युद्ध-विद्या हमने भी द्रोणाचार्य से सीखी... पाण्डवों ने भी । हम संख्या में पाण्डवों से अधिक थे... लेकिन हम एक भी पाण्डव को नहीं मार पाये । कहाँ रह गया अधूरापन हमारे जीवन में.... रह रहकर कुन्ती की प्रतिमा उभरती है मन में... ऐसा क्या किया.. उसने कि बिना बाप के बच्चे जीत गये और हम भेड़ों के रेवड जैसे मार दिए गए ...."[1]

अपने अहं की स्थापना के लिए मानव जीवन को तुच्छ समझनेवाला मनु जैसे पात्र को प्रभाकर श्रोत्रीय ने 'इला' में दर्शाया है । अपनी पुत्री को पुत्र बनाकर वह राज्य के उत्तराधिकार का समाधान ढूँढ़ लेता है । लेकिन इला से सुद्युम्न बनकर वह हमेशा अर्न्तद्वंद्व से पीड़ित रहता है । आज मानव अत्यधिक भौतिक, अहंकेन्द्रित और आत्मकेन्द्रित होता हुआ दिखाई देता है । उसके प्रत्येक क्रिया-व्यापार में उसका अहं ही प्रकट होता है । ऐसी अवस्था में वह दूसरों से एवं समाज से भी मुँह मोड़ लेता है और वह अपनी बनायी दुनिया में बसना आरंभ कर लेता है । आज की व्यवस्था नहीं बदल रही है बल्कि व्यवस्था मनुष्य को बदल रही है जो एक स्वस्थ पीढ़ी के निर्माण के बदले दमित कुण्ठित चेतनाओं से ग्रस्त अशान्त पीढ़ी का निर्माण करता है । प्रद्युम्न के शब्दों में इस अशांत एवं तनाव ग्रस्त पीढ़ी को देखा जा सकता है ।

"सुद्युम्नः मेरा मन... क्या करूँ वह मेरा साथ नहीं देता, माँ । समुद्र मंथन चलता रहता है मेरे भीतर, जो मेरे अस्तित्व को कभी इधर तो कभी उधर... स्थिर नहीं रहने देता मुझे।"[2]

---

1. शंकर शेष -कोमल गांधार पृ. सं. 67
2. प्रभाकर क्षेत्रीय, इला पृ. सं. 53

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने महाभारत कालीन अभिमन्यु की त्रासदी को समकालीन व्यक्ति की त्रासदी के अंतर्गत रखकर 'मिस्टर अभिमन्यु' नाटक की रचना की है । इसमें एक आदर्शवादी अफसर राजन पर अभिमन्यु के मिथकत्व आरोपित किया गया है । समकालीन व्यवस्था के चक्रव्यूह में फँसे अभिमन्यु चाहकर भी बाहर निकल नहीं सकते । इसमें आदर्शवादी राजन अवसरवाद के संघर्ष, एवं तनाव से टूट जाता है जो समकालीन व्यक्ति की त्रासदी है । इस नाटक में उसकी त्रासदी बिलकुल आज की त्रासदी है । उसके सवाल बिलकुल आज के सवाल हैं। कोई और युग, कोई और आख्यान कोई और चिकित्सा उसकी सहायता नहीं कर सकती उसकी मृत्यु बिलकुल आज की मृत्यु है । उसका चक्रव्यूह बिलकुल आज का चक्रव्यूह है। नाटक में आज के मानव की विडंबना दर्शाया गया है जो हमेशा न चाहते हुए भी निष्क्रिय होना पडता है और हमेशा अनिर्णय की स्थिति में पडा रहता है । आज के सन्दर्भ में व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता खो रहा है । उसका व्यक्तित्व विनष्ट होता हुआ दिखाई दे रहा है । यही प्रश्न 'देहान्तर' में नन्दकिशोर आचार्य द्वारा भी उठाया गया है । मनुष्य के जटिल मनोवैज्ञानिक गुत्थियों एवं उसके अस्तित्व के गहरे प्रश्नों को इस नाटक में उभारा गया है । इसमें ययाति के पौराणिक प्रसंग को समकालीन संवेदना केलिए चुना गया है । ययाति इसमें भोगवादी है जो अपने पुत्र का यौवन लेकर सुख का अनुभव करना चाहता है । आज व्यक्ति किसी भी तरह अपने को बनाये रखना चाहता है । संबन्धों एवं मूल्यों को अनदेखा करते हुए अपनी ज़िन्दगी से वह लिपटा हुआ है । इसलिए ययाति अपने पुत्र का यौवन स्वीकार कर लेता है । स्व की चिन्ता ने उसे अत्यधिक स्वार्थी बना दिया है । वह आज किसी भी कीमत पर अपने को सुखी रखना चाहता है । ययाति में यह सत्य देखा जा सकता है । केरल में कुछ साल पहले एक राजनैतिक पिता परिवहन मंत्री बने अपने बेटे की इस्तीफा करवाकर उसी स्थान में आ गया। पुराण के ययाति और आज के इस राजनैतिक पिता में कोई फरक नहीं ।

ययातिः लेकिन मैं तो प्रेम चाहता था, निश्चल प्रेम -वह मेरे भाग्य में नहीं है स्याता कहीं कच, कहीं देवयानी, और अब अपना ही अंश पुरु.. कहीं मुक्ति नहीं । सब कुछ ले लो मुझसे, सब कुछ । छोड़ दूँगा मैं यह चक्रवर्तित्व - बस एक पल... निश्चल, मुक्त प्रेम ... एक पल....."[1]

आधुनिक युग में मानव तो जीवन के दबावों से गुज़रते हुए भी जीने केलिए संघर्षरत है । अन्तर और बाहर द्वन्द्वों से पीडित रहकर भी आगे बढ़ने के मार्ग तलाशता रहता है । इस यात्रा में कभी वह पूर्णतः टूट जाता है कभी उसका व्यक्तित्व खण्डित हो जाता है । समकालीन नाटककारों ने आधुनिक मानव की मानसिकता एवं स्थिति को मिथकीय पात्रों से निकालकर अपनी अभिव्यक्ति क्षमता का परिचय दिया है । आधुनिक मानव के आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष का कारण घोर वैयक्तिकता है । इन समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए आधुनिक नाटककारों ने अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

परिवार

देश में दिन प्रति दिन बढ़ते जा रहे औद्योगीकरण, जनसंख्या एवं आर्थिक विपन्नताएँ व्यक्ति सम्बन्धों में दरारे पैदा कर रही हैं । वैयक्तिक सम्बन्धों में आत्मीयता, विश्वास एवं श्रद्धा का भाव खो चुका है । इन भावों को बनाये रखने वाली सशक्त व्यवस्था है परिवार । एक संस्कार युक्त समाज की सृष्टि करने में परिवार अपनी प्रमुख भूमिका निभाया है । भारतीय सभ्यता में परिवार को सबसे प्रमुख स्थान दिया गया है । समाज व्यक्तियों से निर्मित विशाल रूप है तो परिवार इसका लघुरूप है । प्रत्येक व्यक्ति अपने सशक्त व्यक्तित्व का निर्माण परिवार द्वारा करता है । सभ्यता के आरंभिक युग में मानवता का पालन पोषण प्रकृति की गोद में हुआ था । प्रकृति से युक्त रहकर वह अपने पशुचारिता को छोड़ा था । तब तक मानव यह जान चुका

---

1. नन्दकिशोर आचार्य - देहान्तर - पृ. सं. 19

था कि प्रकृति ही उसके अस्तित्व को बनाये रखनेवाला एक मात्र सशक्त माध्यम है । आगे अपनी जीविका चलाने केलिए उन्हें दूसरे साथियों की आवश्यकता महसूस हुई । ऐसी आवश्यकताओं ने मानव को सामाजिक बनाया । परिवार की परिकल्पना यहीं से शुरु हुई थी। पशुचारिता को छोडते हुए उनके जीवन में स्थायित्व एवं व्यवस्था आ गयी । सभ्यता के विकास के साथ लोगों की मानसिकता में परिवर्तन आने लगा । परिवार समाज का अभिन्न हिस्सा तो बन गया लेकिन आज परिवार में मूल्यों का बिखराव हो रहा है, यह स्थिति आज अपने ही घर में अजनबी बनने की नियति तक पहुँच चुकी है ।

पारिवारिक संबन्ध एवं पारिवारिक विघटन

पारिवारिक संबन्धों में परिवार के प्रत्येक सदस्य का लगाव अनिवार्य है । अन्यथा ऐसे परिवार को परिवार की कोटि में नहीं रखा जा सकता । एक ज़माना था जब भारत में संयुक्त परिवार की प्रथा थी लेकिन आज भौतिकता की ओर बढ़ते जा रहे व्यस्त जीवन ने व्यक्ति को संयुक्त परिवार से सरल तथा आणविक परिवार की ओर अग्रसारित किया है । इस तरह सभी पुरानी मान्यताओं की ओर मानव ने प्रश्न चिह्न लगाना शुरु किया और वैयक्तिकता को प्रश्रय देने लगा । आज व्यक्ति को अपने कार्यक्षेत्र चुनने एवं अपनी इच्छा के अनुसार जीने की पूर्णतः छूट है, ऐसे कई सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों ने पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस किया । इसके फलस्वरूप मानव जीवन पूर्णतः विघटित हुआ । परिवार सबसे पहले इसका शिकार हुआ । लघु परिवार की बढ़ोत्तरी भी इसीका नतीज़ा था । पश्चिमी सभ्यता का बुरा प्रभाव भी इस विघटित स्थिति के मूल कारणों में प्रमुख है । क्योंकि पश्चिमी सभ्यता ने इन स्थितियों को और भी पोषित किया है । पश्चिमी सभ्यता में परिवार की परिकल्पना बिलकुल

भिन्न है । वहां मानव जीवन बहुत तेज है । पूरी तरह खुली ज़िन्दगी जीने की स्वतंत्रता वहाँ सब को प्राप्त है । भारत में भी लगभग सभी क्षेत्रों में इस तरह के संस्कार का सूत्रपात हो चुका है एक बीमारी की भाँति यह आज पूरे समाज में व्याप्त है ।

रमेश बक्षी का नाटक 'देवयानी का कहना है' में देवयानी पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित नारी है । इसमें 'देवयानी' नाम ही पुराण से लिया गया है । बाकी सब आधुनिक सन्दर्भ में लिखा गया है । नाटक में देवयानी पारिवारिक सम्बन्धों में कोई विश्वास नहीं करती । आसमान में उड़ती पंछियों की तरह वह अपना जीवन जीना चाहती है । उसे अपने परिवार में भी रिश्तों की दृढ़ता नहीं दिखाई देती है । उसकी माँ और पिता के बीच आत्मीयता का भाव नहीं था । दोनों को वह अपने जीवन में कोई महत्व भी नहीं देती । यहाँ तक कि उसके भाग जाने के बाद माँ दूसरों से यह भी कहने केलिए तैयार हो जाती है कि उसकी बेटी का देहान्त हो चुका है । परिवार में आत्मीय सम्बन्धों का अभाव ही उसके विकल मानसिकता का कारण था । परिवार में एक स्वस्थ वातावरण का न होना बच्चों के भविष्य की उज्जवल संभावनाओं को बन्द कर देता है । नशीली पदार्थों का उपयोग और जुर्म करने केलिए उन्हें प्रेरित करता है। कोमल गांधार' में दुर्योधन भी ऐसे हालात का शिकार है । अपने अहं को बनाये रखने के लिए गाँधारी अपने सन्तान को सही रास्ता दिखाने में असफल हो जाती है । वह अपने कर्तव्यों के आगे निर्विकार रहती है । इसी कारण उनके बच्चे बिगड़ जाते हैं और शकुनि के हाथों वे षड्यंत्र एवं मूल्यहीनता में पलते हैं । घर में स्वस्थ वातावरण का न होना बच्चों पर गलत असर का कारण बन जाता है । उनमें हीन-ग्रन्थि का विकास होता है और जीवन के सभी क्षेत्रों से वे पीछे हट जाते हैं । दुर्योधन के इन वाक्यों में यह स्पष्ट है -

"इस क्षण मैं मान-अपमान, राग-द्वेष सभी से मुक्त हूँ काका ! किसने दिखाया हमें जीने का राजमार्ग ? कब लगे हैं अंधों को अच्छे लम्बे रास्ते ? सारी ज़िन्दगी हम सब भाई

---

1. मनोहर पूरी, उषा पूरी -समकालीन भारत, पृ. सं. 213

अपने रास्ते की खोज में भटकते रहे । शकुनि मामा के अलावा था कौन ? उनका अपना सोचने का ढ़ंग था । उन्होंने जीवन को युद्धभूमि न मानकर केवल चौपट का खेल माना । उन्होंने हमें षड्यन्त्र के रास्ते दिखाए... और हम सारी ज़न्दगी एक बचाव की मुद्रा में बने रहे ।"[1]

दुर्योधन अंत तक कुछ हासिल नहीं करता। उसका जीवन अधूरा रह जाता है । समकालीन सन्दर्भ में भी नई पीढ़ी इस अधूरेपन में जी रही है । वह परिवार एवं समाज से कटती जा रही है । 'कथा एक कंस की' में दयाप्रकाश सिन्हा ने इस समकालीन यथार्थ को कंस के मिथक में दिखाने का प्रयास किया है । कंस को अपने पिता से ही चोट खानी पडी थी । कोमल हृदयवाला कंस अंत में एक निरंकुश शासक बन जाता है । बचपन से ही उसके कोमल स्वभाव के कारण उसे पुरुष वेष में स्त्री तक कहा जाता था । यह सब तिरस्कार उसमें हीन ग्रत्थि उत्पन्न कर देता है और धीरे धीरे उसके अन्दर विद्रोह का भाव प्रस्फुटित हो जाता है । बचपन में अपने माँ-बाप से ही बच्चे अधिक प्रभावित होते हैं । उनके शरीरिक एवं मानसिक विकास में जितना हाथ माँ बाप का है उतना अन्य किसी का नहीं । हर माँ-बाप का कर्तव्य है कि उनके द्वारा एक उज्जवल पीढ़ी का निर्माण हो, न कि एक विकल पीढ़ी का । उन्हें जीवन के सच्च एवं यथार्थ से अवगत करके जीने का रास्ता दिखाना चाहिए । बाज़ार एवं मीडिया का उपभोग बच्चों से उसके मासूमियत को छीन रहा है । आधुनिक युग की व्यस्तता ने बच्चों को माँ-बाप की ममता से वंचित रखा है । आज आर्थिक स्थिति को संतुलित रखने के लिए माँ भी काम करती है । ऐसी ज़िन्दगी ने मनुष्य को यंत्र के समान जीने केलिए विवश कर दिया है । आज मनुष्य एक विशाल संघटन का अंग मात्र है । व्यक्तिगत संबन्ध उसमें खोता जा रहा है ।

प्रभाकर श्रोत्रीय के 'इला' में मनु के पुत्र सुद्युम्न आधुनिक युगीन यथार्थ से ओतप्रोत है । पिता के जिद्द के कारण उन्हें स्त्री से पुरुष बनना पडा था । क्योंकि मनु को चाहिए था राज्य

---

1. शंकर शेष- कोमल गांधार, पृ. सं. 68

के उत्तराधिकारी । अपनी इस नियति के कारण सुद्युम्न हमेशा अंतर्द्वन्द्व से पीड़ित है । पत्नी श्रद्धा की इच्छा के विरुद्ध मनु ने अपनी पुत्री को पुत्र बनाया था । मनु में पिता या पति का अधिनायकत्व स्वरूप देखा जा सकता है । नारी सदियों से पुरुष का शोषण सहती आई है यह एक युगीन यथार्थ है । पति-पत्नी और बच्चों के बीच आत्मीयता का भाव न होना आधुनिक युग की दुःखद त्रासदी है । यहाँ तक कि राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ती भी बच्चों द्वारा की जा रही है । सेतुबन्ध की प्रभावती इसके लिए उदाहरण है । प्रभावती राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ती का शिकार है। उसके पिता-चन्द्रगुप्त प्रभावती की इच्छा के विरुद्ध उसकी शादी कराता है । माँ-बाँप और बच्चों के बीच के कोमल संबन्ध लुप्त होता हुआ यहाँ दिखाई देता है । निरीह नारी की नियति भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है -" चन्द्रगुप्तः 'दिग्विजय का घोड़ा शकक्षत्रप रुद्रसिंह की सीमा में नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि उसके और गुप्तसाम्राज्य के बीच में विदर्भ राज्य है । इसलिए ऐसी भौगोलिक स्थिति के कारण वहाँ की वाकाटक सेना शकों के विरुद्ध आक्रमण में बहुत सहायक होगी, अर्थात इस ब्याह से दोहरे उद्देश्य पूरे होंगे - वाकाटक गुप्त सम्राट के प्रभावक्षेत्र में आ जायेंगे और शक उनके अधिकार क्षेत्र में.... मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की बहुत उपजाऊ भूमि के हाथ में आ जाने से एक ओर तो शासन की समृद्धि बढ़ेगी और दूसरी ओर साम्राज्य-सीमाएँ बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक निर्बाध फैल जायेंगी।.... दिग्विजय पूरी होने के बाद एक देश में एक सम्राट का एकछत्र शासन होगा । जो समय, साधन और शक्ति आपसी युद्धों में नेकार जा रही है । जनकल्याण में लगेगी । शांति और सद्भावना के वातावरण में साहित्य और कला की उपलब्धियाँ गगनचुंबी ऊँचाईयों को छू लेंगी और सभ्यता तथा संस्कृति को गुप्तयुग की अमूल्य देन सहस्त्रों शताब्दियों तक याद की जायेगी।"[1]

---

1. सुरेन्द्र वर्मा -सेतुबंध, पृ. सं. 32

अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ती के लिए अपने पुत्र का इस्तेमाल करनेवाले पिता को मिस्टर अभिमन्यु में लक्ष्मी नारायण लाल ने राजन जैसे पात्र द्वारा दिखाया है । इसमें राजन महाभारत के अभिमन्यू की तरह व्यवस्था के चक्रव्यूह में फँस कर अपना दम तोड़ता है । राजन की चिन्ताओं एवं संस्कारों एवं चेतनाओं को देखे बिना पिता उसे एक वरिष्ठ स्थान प्राप्त करने केलिए प्रशिक्षित करता है । आज कल के माता-पिता बच्चों को प्रतियोगिता के माहौल में जीने के लिए विवश कर रहे हैं । प्रस्तुत नाटक में राजन के पिता को चाहिए था पद, सत्ता, अधिकार और सुविधाएँ । इसके लिए माँ भी पिता का साथ देती है । राजन की इच्छा के विरुद्ध उसकी नियति पिता द्वारा तय हो जाता है । व्यवस्था के चक्रव्यूह में पड़कर उसका व्यक्तित्व खण्ड-खण्ड विभाजित होते हुए चक्रव्यूह के भीतर और बाहर युद्ध का सामना करना पड़ता है ।

दिन-प्रतिदिन बिगड रही अर्थव्यवस्था, महंगाई, व्यक्ति स्वातंत्र्य की प्रबल इच्छा एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य का हनन भौतिकता की ओर आकर्षित हो रहे मानव को आत्म सीमित बनाया है । व्यक्तिगत हितों को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति पारिवारिक विघटन का एक कारण है । न चाहते हुए भी आधुनिक मानव को व्यवस्था से समझौता करना पडता है । फलतः सद्भाव तथा सहिष्णुता जैसी भावनाएँ मानव जीवन से विस्थापित हो रही हैं । एक और से कटते जाने के कारण मानव ने इन भावनाओं से अपने को बहुत दूर खडा कर दिया है । 'एक ओर द्रोणाचार्य' के अरविन्द की तरह समकालीन व्यक्ति सत्ता के साथ समझौता करके अपने को बेच रहा है। इसमें अरविन्द की पत्नी के सुविधा-मोह के कारण उसको अपने में निहित मानवीयता को त्याग कर यथार्थ के सम्मुख अपनी आँखें बंद कर देनी पडती है । इस के सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्ण के शब्दों को उद्धृत करना अनुचित नहीं है - "प्रौद्योगिकी के बदौलत आर्थिक संघटन की ऐसी नई प्रणालियाँ निकल आई हैं जिनमें व्यक्ति की अपनी सहजता तथा दूसरों के साथ अपनी एकता की भावना का लोप होता जा रहा है । हमारा समाज एक विशाल संघटन का अंग मात्र

बनता जा रहा है और व्यक्तिगत सम्बन्ध उसमें खोते जा रहे हैं । परिवार, ग्राम्य समूह, स्थानीय-संस्था, मन्दिर, धर्म या मस्जिद का प्रभाव मिटता जा रहा है । लोग अशान्त गतिमान है और उन्हें क्वाचित ही शान्ति मिल पाती है । प्रौद्योगिकी की प्रगति ने जो सुविधाएँ हमारे आगे रख दी हैं उनमें जो डूब गए हैं वे आत्म-नियन्त्रण के प्रयत्न में कठिनाई अनुभव करते हैं । हम भौतिक स्तर पर सुखपूर्ण जीवन बिताने के साधनों का जितना ही इस्तेमाल करते हैं, उतना ही अपने आप से दूर पडते जाते हैं ।"[1] इस दूषित सामाजिक व्यवस्था को बदलने का समय पार कर चुका है । समाज की शक्ति परिवार है । मानवीय सम्बन्धों को बनाये रखने से ही एक स्वस्थ परिवार की सृष्टि संभव है । एक स्वस्थ परिवार ही एक संस्कार युक्त समाज की सृष्टि कर सकता है ।

मूल्य विघटन

मूल्य वही है जो मानव जीवन को अधिकाधिक संस्कार युक्त बनाता है । इसे एक धारणा या दृष्टिकोण भी कह सकते हैं । ऐसी वस्तुएँ या क्रियाएँ जो समाज की धारा को सही दिशा में बहने केलिए सहायक सिद्ध होती हैं उसे हम मूल्यवान कह सकते हैं । इसके विपरीत जो क्रियाएँ या वस्तुएँ समाज की अजस्र धारा को अवरुद्ध करती हैं तब वहाँ मूल्य विघटन हो जाता है । "युग विशेष में, राष्ट्र या समाज को प्रभावित करने वाली व्यक्तिगत, समष्टिगत, भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक और सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यताएँ तथा प्रतिमान ही जीवन मूल्य है। ये सामाजिक व्यवहार की एक-रूपता के मूलाधार हैं । सामाजिक विकास के ये प्रतिमान परिस्थिति और युग के सन्दर्भ में बदल जाते हैं ।"[2] समकालीन सामाजिक सन्दर्भों के अनुसार मूल्यों में बदलाव होता रहता है । परंपरागत मान्यताओं का नकार समकालीन सन्दर्भ में बहुत अधिक हो रहा है । पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था अब नए मूल्यों को स्वीकार रहा है ।

---

1. डॉ. राधाकृष्ण - सत्य की ओर, पृ. सं. 22
2. मिथिलेश रेहतगी - हिन्दी की नई कहानी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन. पृ. सं. 59

रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है' में उन्होंने इन बदलते मूल्यों को नए परिप्रेक्ष्य में दिखाया है। यह नाटक यद्यपि मिथकीय नहीं है, लेकिन देवयानी के मिथक को इस में लिया गया है । नाटक में देवयानी परंपरा से चले आ रहे मूल्यों को एकदम नकारते हुए दिखायी देती है । पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव भी उसमें दिखाया गया है । सद्भावनाओं के रहते ही समाज में विकास और उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है । देवयानी यहाँ परंपरा की लीक से हटकर चलना चाहती है । इसलिए वह बिना शादी करके साधन के साथ रहती है । वह शादी को केवल खुले आम घूमने का 'पास' ही मानती है । आज हमारे चारों ओर ऐसी ही स्थितियाँ हैं । नई पीढ़ी अपनी तरफ से निर्मित संस्कृति में जी रही है जहाँ रिश्तों एवं सम्बन्धों पर कोई विश्वास नहीं होता। इसके बदले में सकारात्मक मूल्यों को बनाये रखने में ही समाज की उन्नति है - "मूल्य समाज की व्यवस्था और व्यक्ति के विवेक की आधारशिला बनकर परंपरा और जीवन-शैली के पर्याय एवं परिचालक के रूप में जाने जाते हैं।"[1] इसी तरह शिक्षा का क्षेत्र भी मूल्यों को खोते हुए एक व्यवसाय बन रहा है । अध्यापक और विद्यार्थी के संबन्ध अब पहले जैसे नहीं रहे हैं । शंकर शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' में इसी सत्य का उदघाटन किया है । नाटक के मुख्य पात्र अरविन्द और राजकुमार इस तरह के मूल्य विघटन के उदाहरण हैं। शिक्षा का औद्योगीकरण शिक्षा की आम रीति को पूर्णतः नकार चुके हैं । शिक्षा के क्षेत्र में मुल्य विघटन का प्रमुख कारण यह औद्योगीकरण है । आज सभी उच्च शिक्षा को बाज़ार की दृष्टि से देख रहे हैं । विज्ञान एवं व्यवसाय को बढ़ावा देनेवाले विषयों को ही पाठ्य-पद्धति में अधिक प्रमुखता दी जाती है । मानवीय विषयों की प्रमुखता इन पाठ्य पद्धातियों से घटती जा रही है। इसका परिणाम होगा मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने की क्षमता का नाश । इस तरह की एक विकल संस्कृति यहाँ पनप रही है । भौगोलीकरण के इस दौर में शिक्षा भी आज बाज़ार में बिकाऊ चीज़ है । प्रभाकर श्रोत्रीय का 'इला' समकालीन व्यवस्था के मूल्य विघटन का

---

1. साहित्य अमृत -संपादकीय, फरवरी 2006

सशक्त उदाहरण है । मनुष्य इसमें केवल महत्वकांक्षा की पूर्ति का साधन मात्र है । मनुष्यता का ह्रास इसमें देखा जा सकता है। दया प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की ' और शंकर शेष का 'कोमल गाँधार' आदि नाटको में भी बदलते जीवन मूल्यों का स्पष्ट चित्र नाटककारों ने खींचा है । मानवीय मूल्यों का ह्रास इन नाटकों का मुख्य विषय है । इतिहास साक्षी है कि मूल्य मनुष्य, संस्कृति एवं परंपराओं को गढ़ने में किस प्रकार सक्षम हुआ है । विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी समाज को उन्नति की ओर अवश्य ले जा रही है लेकिन मूल्यों को सुरक्षित रखकर होनेवाली उन्नति ही शाश्वत है । उच्च मूल्यों एवं मर्यादाओं से वंचित समाज जड़ समान है ।

स्त्रीपुरुष सम्बन्थ

मानव-मानव के बीच संबन्धों की दृढ़ता उसके अस्तित्व को बनाये रखता है । स्त्री-पुरुष का संबन्ध इसमें विशेष महत्व रखता है । आज स्त्री-पुरुष संबन्धों में बहुत बदलाव आ गया है। भारतीय सभ्यता ने स्त्री-पुरुष संबंन्धों को अत्यन्त सीमित दायरे में देखा है। स्त्री-पुरुष संबन्धों को हमेशा मर्यादा की दृष्टि से देखने का संस्कार भी यहाँ मौजूद है । स्त्री और पुरुष अपना-अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व चाहते हैं । इसलिए परंपरागत रीतियाँ ढ़ीली पड़ रही हैं । पहले स्त्री घर के चार दीवार में बन्द थी । उसे चुनाव की आज़ादी नहीं थी । पिता, पति और पुत्र के अधीन थी वह। इसलिए उसे कई प्रकार के बन्धनों को झेलना पडा था । आज स्थिति यह है कि उसे आर्थिक स्वतंत्रता और कानूनी स्वतंत्रता भी प्राप्त है । पुरुष के कन्धे से कन्धे मिलाकर वह आगे बढ़ रही है । इसके साथ परंपरागत विवाह संस्था चरमराने लगी है । भौतिकता का बढ़ता असर एवं पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव भी इसका कारण है । विवाह आज स्त्री और पुरुष के बीच के समझौते के रूप में तब्दील हो रहा है । उनके बीच पहले की जैसी गोपनीयता भी नहीं रही है । विवाह की अवधारणा में परिवर्तन हुआ है । स्त्री पुरुष के बीच

अवैध-सम्बन्ध आम घटना बन गई है । यह एक उच्च संस्कार युक्त समाज की सृष्टि में बाधक है । इस सन्दर्भ में मृदुला गर्ग का यह मंतव्य विचारणीय है कि भारतीय समाज इतना बन्धनग्रस्त है कि -"धीरे-धीरे जंग खाता सामाजिक व्यक्ति उस मुकाम पर पहुँच जाता है, जहाँ उसके सबसे निजी क्षण स्त्री-पुरुष के बीच के दैहिक सम्बन्ध पर भी सामाजिक व्यवहार की बलि चढ़ जाती है । हमारे हाथ- पैर एक मशीनी रोबोट की तरह हरकत करते चले जाते हैं और हम अलग पडे अपना तमाशा खुद देखते रहते हैं।"[1]

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में काम सम्बन्धों को अधिक महत्व दिया जाता है । उनके संबन्ध के अस्तित्व का आधार भी यही है । उनमें आत्मीयता एवं दृढ़ता बनाये रखने में इसकी सख्त ज़रूरत है । आज इसको स्वतंत्र दृष्टि से देखा जा रहा है - "यौन सम्बन्धी पारम्परिक मान्यताएँ इस नये परिवेश में टूट रही हैं और सहभोग का आदर्श सन्तानोत्पत्ति न रहकर मानसिक तुष्टि- बनता जा रहा है । यह सभी कुछ वर्तमान आर्थिक सुविधाओं के कारण भी हो रहा है एवं नयी चेतना के कारण भी । क्योंकि जिस सीमा तक व्यक्ति आर्थिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है। उसी सीमा तक वह परम्परागत सामाजिक विश्वासों और मान्यताओं की परवाह न कर अपने मन और नये विचारों की प्रेरणा से अपने जीवन के यापन की दिशा को बदल लेता है।"[2] दुनिया काफी आगे बढ़ रही है । बन्धन, सीमा, मर्यादा आदि के प्रति विद्रोह हो रहा है । यह सब आधुनिकीकरण के लिए ठीक है लेकिन जब यह मनुष्य के निजी क्षणों एवं रिश्तों में बाधा डालता है तो मानव मानव के बीच की भावात्मक दूरियाँ बढ़ जाती हैं । वह अकेला, निरीह एवं तनाव-ग्रस्त हो जाता है । यहीं नहीं प्रेम जैसे रागात्मक वृत्ति का अभाव स्त्री-पुरुष संबन्ध के ढ़ीले पड़ जाने का मुख्य कारण है । नयी चेतना, नये भावबोध और समकालीन संवेदना के सन्दर्भ में विवाह को केवल एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में देखने की प्रवृत्ति आज पूरे समाज में व्याप्त है ।

---

1. मृदुला गर्ग-अजनबियों की मानिंद -पृ. सं. 3
2. डॉ. शेखर शर्मा - समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक, पृ. सं. 122, 123

पहले पति और पत्नी के बीच रागात्मक सम्बन्ध न होने पर भी एक दूसरे से निर्वाह कर लेते थे । लेकिन आज स्थिति यह नहीं है । परंपरागत मान्यताओं में विश्वास घटता जा रहा है । सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटक 'सेतुबन्ध' में परंपरागत रूढ़ियों को तोड़नेवाली स्त्री का चित्रण किया है । नाटक में प्रभावती का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हुई थी । राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ती के लिए पिता द्वारा उसका विवाह होता है । अपने प्रेमी कालिदास के भविष्य के लिए वह इस विवाह के समझौते के लिए तैयार हुई थी । फलतः जीवन पर्यन्त उसे एक ऐसे आदमी को पति के रूप में स्वीकारना पडता है जिसके प्रति प्रभावती कभी आत्मीयता नहीं दिखाती। वह पूरे जीवन में अपने प्रेमी को याद करती है और उसे ही प्रेम करती रहती है । प्रभावती में सुरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक युग की नारी का प्रगतिशील चिन्तन भर दिया है । प्रभावति में आधुनिक नारी का शब्द प्रतिध्वनित है - "क्या कोई स्थिति ऐसी नहीं हो सकती जिसमें परपुरुष पति बन जाए और पति परपुरुष।"[1] पिता और पति के द्वारा दबाए जाने के बाद भी वह अपने अंदर के विश्वास एवं भावनाओं को नष्ट नहीं करती । पति के होते हुए भी परपुरुष को चाहने में वह सुख एवं सन्तोष ढूँढ़ती है । 'आठवाँ सर्ग' में भी सुरेन्द्र वर्मा ने स्त्री-पुरुष संबन्ध के महत्व को चित्रांकित करने की कोशिश की है । स्त्री और पुरुष के दैहिक एवं मानसिक मिलन को अत्यन्त भावात्मक ढ़ंग से इसमें वर्णित किया गया है । नाटक का केन्द्रीय विषय भी यही है । नाटक के पात्र कालिदास को उनके द्वारा लिखे गए कुमारसंभव के आठवाँ सर्ग में अश्लीलता का आरोप झेलना पडता है । इसमें शिव और पार्वती का मिलन चित्रित किया गया था । 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' में भी नाटककार ने स्त्री-पुरुष संबन्धों की चर्चा की है। इस नाटक में भी दाम्पत्य जीवन की गहरी और बारीकी से छानबीन की गयी है । समसामयिक युग के मूल्यों में आए परिवर्तन इस नाटक में दृष्टिगोचर होता है । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की परस्पर अपूर्णता और पूरकता एक जटिल समस्या है । इस नाटक के संबन्ध में जयदेव तनेजा

---

1. सुरेन्द्र शर्म - सेतुबन्ध, पृ. सं. 31

का कथन उल्लेखीय है - "पति-पत्नी के पारस्परिक शान्त और सहज प्रतीत होने वाले सम्बन्धों में कैसे एक भूकम्प ला देती है और कैसे उनका अटूट रिश्ता तार-तार होकर बिखरता चला जाता है - पुस्तक जीने से लेकर जीवन जीने तक की साहित्यिक उत्तेजक और यातनापूर्ण यात्रा का प्रामाणिक दस्तावेज है यह नाटक।"[1] नाटक में पति की नपुंसकता के कारण राज्य की उत्तराधिकारी चुनने के लिए शीलावती को नियोग प्रथा स्वीकारनी पड़ती है । उस प्रथा के अनुसार धर्म नटी बनकर एक रात के लिए किसी को भी वह उपपति चुन सकती है । नाटक में अवश्य स्त्री-पुरुष के नितान्त आत्मीय और अंतरंग सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है । इसके साथ नाटक में स्त्री-पुरुष के अन्तर्द्वन्द्व, जटिल स्थितियों का उद्‌घाटन शीलावती और राजा ओक्काक के ज़रिए किया गया है । सुरेन्द्र वर्मा ने अपने सभी नाटकों के मुख्य विषय के रूप में स्त्री-पुरुष संबन्धों को ही चुना है । इसमें परंपरा से चले आ रहे दाम्पत्य संबन्धों के मूल्यों को तोड़ा हुआ दिखाई देता है । इस नाटक के संबन्ध में गिरीश रस्तोगी की मान्यता है - "निश्चय ही यह नाटक भी सेतुबन्ध', द्रौपदी और 'आठवाँ सर्ग ' की मानसिकता से बहुत अलग नहीं है । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की तरंग और विडंबना एक साथ सब में अपने-अपने स्थान पर है । परम्परागत दाम्पत्य संबन्धों को उनके मूल्यों को, एकदम हिला देने वाला संघर्ष और तनाव सब में है । लेकिन 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' को सबसे अधिक खुला साहित्यिक और अत्यन्त सूक्ष्म स्तर का नाटक कहा जायेगा । सही शब्दों में निश्चय ही यह हिन्दी में अकेला नाटक है जो वर्जनाओं, पुराने मूल्यों, सामाजिक निषेधों और पति-पत्नी के रिश्ते को लेकर बनी हुई अत्यन्त नैतिक-पवित्र तस्वीर को तोड़ता है - बिना किसी कुंठा के या अपराध बोध के ।"[2] यांत्रिक हो रहे मानवीय सम्बन्धों को प्रभाकर श्रोत्रीय के 'इला' में देखा

---

1. जयदेव तनेजा -नई रंग - चेतना और हिन्दी नाटककार, पृ.सं. 150
2. गिरीश रस्तोगी -समकालीन हिन्दी नाटककार, पृ. सं. 67

जा सकता है । श्रद्धा इसमें राज्य के उत्तराधिकारी को जन्म देने का माध्यम मात्र है । पुत्रकामेष्टि यज्ञ करने के बाद पुत्री होने के कारण पति उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है । पति-पन्ती के बीच के वह गहरी सम्बन्ध मनु और श्रद्धा के बीच से खो जाता है । श्रद्धा अंत तक अंतर्द्वन्द्वों से पीड़ित रहती है । दाम्पत्य जीवन में भी पुरुष वर्चस्ववादी नीतियों ने पति और पत्नी के बीच के भावात्मक सम्बन्धों का गला घोंट दिया है । इसलिए मनु कहता है -

"क्या मैं केवल पुरुष हूँ ? केवल पिता हूँ ? मैं एक साम्राज्य का स्वामी भी हूँ । अपनी पत्नी से मुझे चाहिए था राज्य का उत्तराधिकारी । इसमें उनके अधिकार का प्रश्न ही कहाँ है ? फिर स्त्री....?"[1]

आज के जीवन और परिवेश के दबावों से उत्पन्न आन्तरिक और बाह्य सघर्षों ने परंपरागत मूल्यों एवं मर्यादाओं को तहस-नहस कर दिया है । परंपरागत मर्यादाओं को तोडने वाले स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अन्य एक आयाम व्यक्त करनेवाला नाटक है रमेश बक्षी का "देवयानी का कहना है "। इसमें देवयानी पति और पत्नी के सम्बन्धों में कोई अर्थ नहीं समझती। आसमान में उड़ती आज़ाद पंछियों की तरह वह अपना जीवन जीना चाहती है । एक पुरुष के बाद एक पुरुष उसके जीवन में आता रहता है । उसकी मान्यता है 'एन ऐपिल इस नॉट इनफ फॉर द हॉल लाइफ'। यौन सम्बन्धों को वह केवल एक शारीरिक आवश्यकता समझती है । देवयानी की मानसिकता में वर्तमान युगीन पीढ़ी की स्वच्छन्दता एवं स्वतंत्रता बोध विद्यमान है । स्त्री-पुरुष संबन्धों के यह आयाम भी आज के समाज का यथार्थ है । आज के बुद्धिवादी युग में एक हद तक लोग प्रियतम-प्रेयसी वाली दुनिया में ही बन्द रहना नहीं चाहते। सब लोग बदलती हुई चेतनाओं में ही जीना चाहते हैं । नए जीवन-दर्शन को आधुनिक पीढ़ी अपना रही है इसका परिणाम है देवयानी । समाज की व्यवस्था और उसके ढ़ॉचे में परिवर्तन

---

1. प्रभाकर क्षोतिय - इला, पृ. सं. 35

करके नयी पीढ़ी आगे बढ़ रही है । इसने समाज में अनेक प्रकार के अंन्तर्विरोधों की सृष्टि भी की है । स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध समाज के सहज और स्वाभाविक रीति को बनाये रखने के लिए अनिवार्य है । पुराण की प्रकृति और पुरुष के मिथक को इसके परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है ।

नैतिकता

आज समाज में मूल्यों का बदलाव मनुष्य को ऐसी एक जगह पर खडा कर दिया है। जहाँ सब कुछ वैध है । चाहे वह स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में हो, परिवार में हो या किसी भी क्षेत्र में हो जिनके लिए बहुत अधिक महत्व प्राप्त है । प्रत्येक युग में नैतिक चेतना में बदलाव आता रहता है । क्योंकि समाज प्रत्येक क्षण में बदल रहा है। परंपरागत मान्यताओं की नई परिभाषाएँ हो रही है - "आज का युग विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में नैतिकता के परंपरागत प्रतिमानों को अस्वीकार कर, उसकी नयी परिभाषा करने का मार्ग अपना रहा है । पहले का अनुचित उचित बन गया है और उचित को अनुचित करार दिया जाने लगा है । आज के मानवतावाद ने पाप और पुण्य की नयी परिभाषाएं प्रस्तुत की है । यौन-सम्बन्धों के बारे में भी पौराणिक नैतिकता की अवधारणा बदलती जा रही है । आज का व्यक्ति और समाज- विश्व भर के आचरण एवं व्यवहार से प्रभावित भी होता है । अतः वह अब तुलना की तुला पर तौलकर ही सामाजिक मान्यताओं को स्वीकारा या अस्वीकार जाने लगा है ।"[1] विद्रोही सभ्यता ने समाज की अनेक नैतिक मर्यादाओं का अंत घोषित कर दिया है । इसका सशक्त उदाहरण है रमेश बक्षी का 'देवयानी का कहना है।' पश्चिमोन्मुखी भोगवादी दृष्टि को अपनानेवाली पद-भ्रष्ट पीढ़ी को इसमें दिखाया गया है । इस पीढ़ी द्वारा संयम और सदाचार से युक्त भारतीय परंपरा को पीछे छोड़ते हुए दिखाई देता है । आधुनिक पीढ़ी अपनी जिम्मेदारियों से मूँह मोडते हुए नैतिक मूल्यों को नष्ट कर रही है । हमारी कला, मीडिया, चिन्तन, सब कुछ नैतिकता का उल्लंघन करने

---

1. डॉ. शेखर शर्मा, समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक, पृ. सं. 130

पर तुले हुए हैं । मनुष्य के निजी जीवन से मर्यादा, सहिष्णुता, आत्मीयता आदि की गुत्थियाँ पहले ही मिट चुकी हैं इसका स्पष्ट दृष्टान्त है देवयानी । साधन से वह केवल शारीरिक सम्बन्ध ही स्थापित करना चाहती है । वैवाहिक जीवन में विश्वास नहीं करती और कहती है- "शादी केवल एक 'पास' है जिसको हाथ में रखने से खुलेआम घूमने, एक साथ बिस्तर में सोने और दुर्घटना के समय सामाजिक विरोध न होने का सर्टिफिकट मिल जाता है।"[1] देवयानी का यह विचार समसामयिक समय में चारों तरफ हम देख रहे हैं । आज पिता या पुत्री का सम्बन्ध हो या पिता और पुत्र का सम्बन्ध सब में पारस्परिक दूरी बढ़ रही है । समकालीन दुनिया के सारे शील पर अब पर्दा गिर चुका है । प्रभाकर क्षोत्रीय ने 'इला' में अपने समय की विकृतियों और विभ्रमों को अनेक मानवीय आयामों से व्यक्त किया है । प्रकृति के विरुद्ध जा रहे मनुष्य की निरंकुश हिंसा इस नाटक में प्रकट हुआ है । प्रकृति के विरुद्ध हो रही मनुष्य की विकृति आज के युग की सबसे बडी त्रासदी है । इला को पुत्र में बदलने की प्रक्रिया प्रकृति के विरुद्ध बढ़ रही मानवता के कुकृत्यों का पर्दाफाश करता है । आज उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए मनुष्य किसी भी हद तक गिरने के लिए तैयार है । 'सेतुबन्ध' में सुरेन्द्र वर्मा ने सत्ता द्वारा समाज में व्याप्त अनैतिक व्यवहारों को दिखाया है । निजी मानवीय सम्बन्धों का टूटन इस नाटक में देखा जा सकता है । इसमें स्वयं पिता पुत्री को अपने राजनैतिक मंसूबों को पूर्ण करने केलिए केवल एक साधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। चन्द्रगुप्त कहता है कि "इस ब्याह से दोहरे उद्देश्य पूर्ण होंगे- वाकाटक गुप्त सम्राट के प्रभाव क्षेत्र में आ जायेंगे और शक उनके अधिकार क्षेत्र में।"[2] आज का युग संवेदनहीनता का युग है। अश्वमेध यज्ञ के लिए बलि दिये जाने वाले घोडे की दुर्दशा एवं उसके लिए रोनेवाले नागरिक आज के युग में आम आदमी की दुर्दशा को द्योतित करते हैं। स्वार्थ को स्थापित करने के लिए मनुष्य ने उचित अनुचित का विवेक त्याग दिया है । इस लिए आज मानवीय मूल्यों का अंत और पशुमूल्यों की स्थापना हो चुकी है । आज की राजनीति में यहीं हम देख रहे हैं । आज की राजनीति से नैतिकता की अंतिम बूँद तक सूख

---

1. रमेश बक्षी - देवयानी का कहना है, पृ. सं. 32
2. सुरेन्द्र वर्मा - सेतुबन्ध - पृ. सं. 31

चुकी है । अनैतिकताएँ ही आज की राजनीति को चला रही हैं । इस तरह की राजनीति ने देश में दोयम व्यवस्था की स्थापना की है जिससे नैतिक आधार पूर्ण रूप से फीका पड चुका है । धर्म राजनीति के साथ जुड़कर चुनाव में जीतने का एक तरीका बन चुका है । धर्म के क्षेत्र से सारी नैतिकताएँ मिट चुकी हैं । एक ज़माने में धर्म का पंजा शक्तिशाली था और पारंपरिक नैतिक मान्यताएँ भी मज़बूत थीं।

नारी जीवन और नारी अस्मिता

स्त्री शक्ति है, प्रेरणा है, वात्सल्य की 'सजीव मूर्ति है । समाज में नारी की अनेक भूमिकाएँ हैं जिन्हें वह सदियों से निभाती आ रही है । स्त्री और पुरुष सृष्टि के दो भिन्न अंग होते हुए भी स्त्री को दूसरे दर्जे का इन्सान समझा जा रहा है । एक ज़माना था जब स्त्री को देवी माना जाता था । लेकिन आज उसकेलिए साधारण सामाजिक नीतियाँ तक निषिद्ध हैं । वह अपने अधिकार के लिए पूरी तरह लड़ रही है । आज स्त्री समाज के प्रत्येक क्षेत्र में गतिशील है फिर भी उसे अबला ही कहा जाता है । माता, पत्नी, पुत्री आदि भूमिकाएँ निभाते हुए घर से बाहर निकलकर परंपरागत रूढ़ियों को वह बदल रही है । याने ज्ञान-विज्ञान, प्रशासन आदि क्षेत्रों में कदम रखकर उसने अपनी कुशलता दिखायी है । स्त्री के इस आधुनिक रूप ने परंपरागत स्वरूप को बहुत कुछ बदल दिया है । समाज में अपनी जगह बनाने के बावजूद भी नारी के जीवन से जुड़ी समस्याओं, विसंगतियों, एवं संघर्षों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ- "सदियों से नारी शोषित है और आधुनिक युग भी इस शोषण की प्रक्रिया से अलग नहीं । आंदोलन, नारे ये सब आंतरिक भावनाओं के प्रतीक नहीं दिखते । नौकरी करते समय, कला-आराधना के समय कही भी तो नारी अपने नारीत्व को पूर्ण सुरक्षित एवं संदेहों से विलग नहीं कर पाती। अनाथालय, विधवाश्रम, महिला-आश्रमों में संरक्षण के नाम पर उसका क्रय होता है। और अब तो 'कॉलगर्ल्स' की संख्या घटने की जगह बढ़ती जा रही है । दहेज और शादी

की मान्यताओं ने कुमारी लडकियों का शोषण किया है और वे समाज में न तो शादी के बाद सुरक्षित है, न ही शादी के पूर्व ।"[1] सेतुबन्ध में सुरेन्द्र वर्मा ने नारी का विडंबनापूर्ण चित्र दिखाया है । राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ती के लिए प्रभावती को पिता चन्द्रगुप्त उसकी इच्छा के विरुद्ध एक ऐसे इन्सान से शादी करा देते हैं जिन्हें वह पति के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती है । ज़िन्दगी भर यह बोझ वह सह लेती है । इसमें परंपरागत नारी की स्थिति के साथ उसके जागृत रूप को भी दिखाया गया है । इसमें पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्री का दमन होने के साथ साथ प्रभावती ऐसी एक स्त्री है जो अपने अन्दर स्वतंत्र चिन्तन एवं दृढ़ता भी रखती है । लेकिन एक स्त्री होने के नाते प्रभावती बहुत दबायी गयी थी । वह महाकवि कालिदास से अथाह प्रेम करती थी लेकिन शतरंज के मोहरे की तरह पिता उसे इस्तेमाल करता है ताकि अपने राज्य की विस्तृति बढ़ जायें । वह पति और प्रेमी की चिन्ताओं में विडंबनापूर्ण जीवन निर्वाह कर लेती है । प्रेमी के प्रति अपना विश्वास और आराधना कभी टूटने नहीं देती है । विडंबनापूर्ण स्थिति में भी वह अपने भीतर की ज्वाला बनाये रखती है । प्रभावती में नाटककार ने एक आधुनिक शिक्षित नारी को भी दृष्टिगत कराया है । अपने पुत्र से अपने प्रेमी के बारे में वह खुलासा करती है । लेकिन कालिदास के प्रति अपना प्रेम अपने भीतर सुरक्षित रखती हुई मर्यादाओं की सीमाओं का उल्लघन भी नहीं करती । प्रभावती में स्त्री के तीन पक्ष देख सकते हैं-पुरुष वर्चस्ववादी समाज द्वारा दबायी गयी नारी, जागृत नारी और मर्यादाओं का पालन करने वाली नारी । 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक में सुरेन्द्र वर्मा ने शीलावती को परंपरा को तोडनेवाली नारी का रूप दिखाया है । एक रात के लिए उपपति चुनने के बाद वह एकदम बदल जाती है । दैहिक सम्बन्ध को ही वह महत्वपूर्ण समझती है । स्त्री स्वतंत्रता का संदर्भ भी नाटक में देखा जा सकता है । क्योंकि बहुत समय तक एक आदर्श पत्नी की तरह वह रहती है । मर्यादाओं को तोड़ने में भी वह पहले तैयार नहीं होती थी । लेकिन नियोग प्रथा को स्वीकारने के बाद वह एक स्वतंत्र नारी बन जाती है ।

---

1. आशारानी ब्योरा - नारी शोषण : अईने और आयाम - पृ. सं. 278

समाज आत्म निर्भर होने के बावजूद भी स्त्री को दोयम दर्जा ही देता आया है इसका स्पष्ट प्रमाण है 'एक और द्रोणाचार्य' की अनुराधा। महाभारतकालीन द्रौपदी के मिथक के अंतर्गत अनुराधा का चित्रण किया गया है । सब लोग होते हुए भी राजकुमार द्वारा उसका अपमान होता है । अरविन्द उसके पक्ष में बोलने के लिए तैयार नहीं होता । आज भी कई स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होती रहती हैं। लेकिन बलात्कार करने वाले पुरुष समाज में स्वतंत्र विहार भी करते हैं । लेकिन स्त्री को कभी अपने घर से ही सहारा नहीं मिलता है । पहले उसका शोषण घर के अन्दर होता था और अब वह सार्वजनिक रूप से शोषित हो रही है । यह एक सामाजिक सत्य बन गया है कि स्त्री शोषित होने के लिए ही जन्मी है । "एक और द्रोणाचार्य" में विमलेन्दु की पत्नी भी इस व्यवस्था का शिकार होती है । विमलेन्दु की पत्नी पर उसके अफसर की बुरी नज़र पड़ी हुई है । अंत में अफसर से बचने के लिए उसे शहर छोड़ना पड़ता है । विमलेन्दु के शब्दों में नाटककार स्त्री की इस दयनीय स्थिति को व्यक्त करते हैं "छोटी सी नौकरी पर अपना पेट पाल रही है । बच्ची का पेट पाल रही है । कभी-कभार मेरी याद में रोती है ।..... उसे लोग चैन से कहाँ रहने देते हैं ? उसका एक नया अफसर आया है । साठ साल उम्र है उसकी । वह, डोरे पर डाल रहा है मेरी पत्नी पर । प्रमोशन का लालच दे रहा है ।"[1] यहाँ यह सत्य और भी स्थापित हो जाता है कि नारी वही है, समाज वही है और उसके प्रति हो रहे शोषण भी वही हैं, फर्क है केवल परिस्थिति का । भीष्म साहनी के नाटक 'माधवी' की माधवी पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा दबायी जाती है । एक स्त्री के ऊपर जितना शोषण करना है वह सब उसके साथ होता है । उसके नारीत्व, इन्सानियत को नकारा जाता है । इस नाटक के संबन्ध में रमेश गौतम का यह मंतव्य उल्लेखनीय है -"मिथक-प्रयोग की दृष्टि से 'माधवी' भीष्म साहबी का अत्यंत महत्वपूर्ण नाटक है । पुरुष प्रधान समाज की सामन्तीय मनोवृत्ति में

---

1. शंकर शेष - एक ओर द्रोणाचार्य, पृ. सं. 54, 55

छटपटाती कर्तव्य परायण निरीह नारी का महाभारतकालीन दस्तावेज़, जो अपनी गहन संवेदना में आज भी बेहद सामायिक है, बेहद प्रासंगिक है ।"[1] माधवी को गुरु दक्षिणा जुटाने हेतु पिता द्वारा दान देता है और गालव उसे महाराजाओं के लिए पुत्रोल्पत्ति करने के लिए देता है ताकि गालव अश्वमेधी घोडों को जुटाकर अपनी गुरु दक्षिण की पूर्ति कर पाये। स्त्री को केवल साधन के रूप में देखने की रीति माधवी में देख सकते हैं । पिता और पति के लिए समर्पित रहकर भी उसका अस्तित्व नकारा जाता है । उसके स्त्रीत्व की परवाह न पिता करते हैं न गालव करते हैं। न उन राजाओं को है जो उसे अंकशायिनी बनाते हैं, जिनके पुत्रों की माँ बनती है माधवी। समकालीन समाज व्यवस्था में नारी की विडम्बनापूर्वक स्थितियों की प्रतिच्छायाएँ नाटक में दृश्यमान हैं। माधवी के इन शब्दों में नारी की नियति का स्पष्ट चित्र नाटककार ने खींचा है - "पिता ने मुझे सौंपकर अपना कर्तव्य निभा दिया । एक दानवीर बन गया, दूसरा आदर्श शिष्य। और माधवी ? मोह की मारी माधवी कर्तव्य से गिर गई । वह किसी बडे काम का दायित्व वहन नहीं कर सकती । यही ना ? ... इस दुर्बल नारी का यूं भी कोई अस्तित्व नहीं है । न ही उस लंपट राजा के लिए । न अयोध्या नगरी (यहाँ के लिए उत्तराधिकारी पैदा किया है) के लिए न मेरे पिता के लिए । और शायद तुम्हारे लिए भी नहीं गालव... माधवी न घर की न घाट की....।"[2] पुरुष वर्चस्व वादी समाज के लिए स्त्री एक साधन मात्र है यही स्थिति हमेशा बरकरार है । नारी स्वतंत्रता का नारा काफी बुलन्द स्वरों में विश्व के कोने कोने में गूँज रहा है और पुरुष से कन्धे से कन्धे मिलाकर वह चल रही है ऐसे समय में भी एक स्त्री होना उसकी सबसे बडी कमज़ोरी है ।

आज की नारी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है, वह घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर शिक्षित बनकर पुरुष के साथ कंधा से कंधा मिलाकर चलने लगी है । फिर भी एक स्त्री होना

---

1. रमेश गौतम - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, पृ. सं. 565
2. भीष्म साहनी - माधवी, पृ. सं. 55

उसकी कमज़ोरी है । एक स्त्री हेने से वह स्वतंत्र घूम नहीं सकती । पुरुष प्रधान समाज में नारी को पुरुष के आश्रय में रहकर, उसके सान्निध्य में ही काम करने पर भी अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए किसी पुरुष के संरक्षण में रहना पडता है, ऐसा न करने पर वह एक 'पब्लिक प्रापर्टी' बन कर रह जाती है - राह पर आते...जाते जिस किसी की भी नज़र उस पर पड़ती है, वह उसे अपनी जागीर समझने लगता है ।"[1] आज के भूमण्डलीकृत समाज में स्त्री-शोषण कई रूपों में हम देख रहे हैं । स्त्री के शरीर या सौंन्दर्य को आज वस्तु की दृष्टि से देखा जा रहा है । "पीठिका पर अंगोपांग निरीक्षण-परीक्षण के लिए खडी माधवी स्त्री के इसी रूप का उदाहरण है । आज विज्ञापन में स्त्री-सौन्दर्य का अधिक मात्रा में इस्तेमाल हो रहा है । सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ स्त्री शोषण का ही एक और चेहरा अनावृत करती हैं। उसे में इस तरह की संस्कृति आरोपित की जा रही है । माधवी में अंत में एक जागृत नारी का भी चित्रण नाटककार ने किया है । सब लोगों से उपेक्षित होकर भी वह दृढ़ चित्त बन जाती है । गालव का अनुरोध अस्वीकार कर वह चली जाती है । उसकी आत्म निर्भरता आज जीवन के कई मोडों में उसे जीत दिला रही है। विलोम परिस्थितियों में भी वह जी रही है । ऐसे कई उदाहरण हमारे चारों तरफ उपलब्ध हैं। 'कोमल गांधार' में शंकर शेष ने गांधारी के मिथक में अपने निर्णय पर अडिग रहनेवाली स्त्री को दिखाया है । व्यवस्था गांधारी को अपनी कोमल गांधार से वंचित करती है। उसकी वीणा की आवाज़ को बन्द कराती है । अपनी इस नियति के कारण वह कभी एक अच्छी पत्नी या माँ नहीं बन पाती है, बच्चों को सही रास्ते दिखाने में वह पराजित भी होती है। राजनैतिक उद्देश्यों के लिए अंधे घृतराष्ट्र से उसकी शादी करायी गयी थी । नारी पर हठपूर्वक अधिकार स्थापित करना पुरुष की आदिम मनोवृत्ति का ही निरन्तर चला आता हुआ हिस्सा है। हर व्यक्ति को निर्णय करने की स्वतंत्रता है लेकिन नारी को नहीं। विवाह जैसे वैयक्तिक सम्बन्ध में भी राजनैतिक उद्देश्य की ही पूर्ती होती है । उसके अस्तित्व को पूरी तरह नकारा जाता है। गांधारी कहती है - "मेरी सहमति का कोई अर्थ नहीं है क्या ? क्यों नकार दिया गया मेरे

---

1. डॉ. नागरत्ना एन. राव. साठोत्तर हिन्दी नाटकों में नारी, पृ. सं. 137

अस्तित्व को पूरी तरह ? राज रक्त से जन्मे एक शरीर से ज़्यादा कुछ नहीं माना गया मुझे, क्यों?... मैं स्त्री हूँ, इसलिए मुझ पर अन्याय करने का इन्हें एक नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है ? सब एक जात के है - मेरा पिता, भीष्म और यहाँ तक कि मेरा भावी पति धृतराष्ट्र भी ।"[1] समाज के केन्द्र में हमेशा पुरुष ही बैठता है और निर्णय भी उसका ही होता है । नारी की स्थिति जैसी भी हो सब कुछ उसे ही छेलनी पड़ती है । भीष्म और धृतराष्ट्र की बातचीत में यह सत्य और भी स्पष्ट हो जाता है ।

"धृतराष्ट्र : तो गांधारी अपनी इच्छा से आयी है न ?

भीष्म : और नहीं तो ....

धृतराष्ट्र : आपने उससे पूछा ?

भीष्मः नहीं !

धृतराष्ट्र : तो

भीष्म : उसके पिता से पूछा ।

धृतराष्ट्रः उससे क्यों नहीं.....?

भीष्मः ज़रूरत ही कहां थी ।....."[2]

स्त्री को अपने भविष्य निर्माण एवं स्वप्नों को साकार कराने में समाज ने हमेश संकुचित और कुटिल दृष्टि अपनायी है । 'कथा एक कंस की' में दयाप्रकाश सिन्हा ने स्वाति के चरित्र में साधन के रूप में इस्तेमाल हो रही स्त्री को दिखाया है । स्वाति को कंस अपनी सत्ता बनाये रखने केलिए इस्तेमाल करता है । स्त्री का चरित्र ऐसा है वह प्रेम करने वालों के लिए सब कुछ न्यौच्छावर करती है । कंस के लिए स्वाति जीवित रहती है । लेकिन अंत में

---

1. शंकर शेष -कोमल गांधार, पृ. सं,. 36-37
2. वही - पृ. सं. 20

वह आत्महत्या कर लेती है । स्त्री का जीवन अपने परिवार के इर्द-गिर्द ही घूमता है । सुबह से शाम तक अपनी कमर तोडकर घर में काम करती है । लेकिन स्त्री की दशा दूसरे दर्जे की ही है । प्रतिक्रियाविहीन रहकर उसे जीवन-यापन करनी पडती है । अपने परिवार के लिए वह अपना अस्तित्व ही भूल जाती है । स्वाति कहती है -"पीछले दिनों तुम्हारी इच्छा के लिए मेरे अधीन करने वाली गुप्तचर स्त्रियों ने मथुरा राज्य के अनेक शिशुओं की हत्या कर दी यहां तक कि लोगों ने कहना शुरु कर दिया... स्वाति राक्षसी है । उसके बड़े-बड़े दाँत और नाखुन हैं। वह शिशुओं का रक्त पीती है । उन्होंने मुझे नया नाम भी दिया है । पूतना ! पूतना ! पूतना! (विक्षिप्त-सी हँसी के बाद) पूतना ! (स्वर बदलकर) यह सब मैंने तुम्हारे लिए किया । तुम्हें सुखी देखने के लिए किया।"[1] 'यमागाथा' में दूधनाथ सिंह ने ऊर्वशी को एक शोषित स्त्री के रूप में चित्रित किया है । इन्द्र की सभा में वह केवल एक देह है । उसका सौन्दर्य इन्द्र सभा को सजाता है । इन्द्र अपना मन भरने के लिए उर्वशी को इन्द्र सभा में रखता है । लेकिन इसके परे जाकर पुरुरवा उर्वशी केलिए मुक्तिदाता साबित होता है। वह ऊर्वशी से कहता है- "मैं तुम्हें अपने प्यार से अलंकृत करूँगा । मैं तुम्हें अपने उद्देश्यों से अलंकृत कहूंगा । मैं तुम्हें अपनी अग्नि से अलंकृत करूँगा। तुम्हारी ही मुक्ति से अलंकृत करूँग।"[2] ऊर्वशी की इस मुक्ति को स्त्री-स्वातंत्र्य के रूप में देखा जा सकता है । उसे एक आधुनिक प्रगतिशील नारी का दर्जा प्राप्त है । ऊर्वशी के संबन्ध में नाटककार का ही मंतव्य है -"नाटक में ऊर्वशी के चरित्र में भारी और बुनियादी परिवर्तन मैने किए हैं । उसके हज़ारों वर्षों का मिथकीय व्यक्तित्व, कालिदास का उत्कृष्ट रोमांटिक घटाटोप और रवीन्द्रनाथ की कविता (ऊर्वशी) में सब मेरे लिए चुनौती थे । रोमांस, विलास और ऋषियों की तपस्या भंग करनेवाली अधिष्ठात्री देवी ...ऊर्वशी के भीतर क्या है ? एक ऐसे स्त्री, जिसका अनादि के अन्त शोषण जिसकी अपरिवर्तित दासता, पितृसत्तात्मक समाज भीतर कभी खतम होती हुई नहीं लगती .... लेकिन जिसके लिए वह लगातार प्रयासरत है।"[3]

---

1. दया प्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की, पृ. सं. 71
2. दूधनाथ सिंह - यमगधा - पृ. स. 32
3. दूधनाथ सिंह - यमगाथा, पृ. सं. 9

'इला' में प्रभाकर श्रोत्रिय ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा उत्पीड़ित नारी को दिखाया है । इस नाटक से यही सामने आ जाता है कि नारी की नियति सदैव पुरुष द्वारा चलायी जा रही नीतियों के अन्दर रहना ही है । इसके अलावा उसे अपनी एक ज़मीन किसी ने भी नहीं दीया । श्रद्धा के शब्दों में यह व्यक्त है श्रद्धा : पराधीनता के वृत्त में घूमना ही नारी की स्वाधीनता है । बचपन में पिता... पिता से छूटी तो पति .... पति से छूटी तो काल।"[1] 'इला' के संबन्ध में जयदेव तनेजा का मंतव्य है -"स्त्री को आद्यशक्ति मानने वाले इस महान देश का इतिहास हमें बताता है कि व्यवहारतः उसे एक वस्तु से अधिक कभी कुछ नहीं समझा गया । इसीलिए इस नाटक की श्रद्धा को लगता है कि "स्त्री नहीं हूँ मैं, हविष्यान्न हूँ...मात्र हविष्यान्न! परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने पति की इच्छा का साधन बनने के बावजूद श्रद्धा यह प्रतिज्ञा करती है कि "वह दुबारा माँ नहीं बनेगी, वह राजवंश के छल को, अपने रक्त से नहीं पालेगी।" उसकी यह विद्रोहपूर्ण चुनौती श्रद्धा के व्यक्तित्व और चरित्र को एक नई गरिमा तथा आभा प्रदान करती है ।"[2] श्रद्धा से अपने सन्तान का अधिकार छीन लेती है । उसकी इच्छा के विरुद्ध इला को सुद्युम्न बनाता है। इला और श्रद्धा स्त्री होने के कारण पुरुष के निर्णय का शिकार हो जाती है । लेकिन स्त्रीत्व को पहचानने के बाद सुद्युम्न उसे आदर की दृष्टि से देखता है । षड्यंन्त्रों को वह समझ लेता है । उसकी इस पहचान में एक जागृत नारी को देखा जा सकता है ।

इन सभी नाटकों में पुरुष समाज के दुष्चक्रों में फँसी नारी की क्रूर नियति का पर्दाफाश हुआ है । ये सभी मिथकीय पात्र आज भी ज़िन्दा हैं हमारे चारों तरफ जी रहे हैं । अपनी अस्तित्व को होम कर छटपटा रहे हैं। भारतीय समाज व्यवस्था के परिवेश में नारी का यही नियति-चित्र हमारे सामने उभरता है ।

---

1. प्रभाकर क्षोत्रिय - इला - पृ. सं. 100
2. जयदेव तनेजा - मिथक पुनः सुर्जनः प्रभाकर क्षोत्रिय का रंगसंसार, पृ. सं. 24

निष्कर्ष

अतीत के झरोखे से वर्तमान को देखने वाले इन सभी नाटकों में वर्तमान युगीन समस्याओं एवं विडंबनाओं का सटीक चित्रण किया गया है आधुनिक युग में व्यक्ति जन्म से लेकर मरण तक एक प्रकार की नियति को लेकर जी रहा है । उसे अपने संपूर्ण परिवेश और जीवन पर काली छाया पडी महसूस हो रहा है । क्योंकि उसका जीवन अनिश्चित और संकटग्रस्त है । आज की व्यवस्था में उसका आन्तरिक और बाह्य यथार्थ अलग अलग है । उसके तनावग्रस्त स्थिति ने पारिवारिक सम्बन्धों को बिखेर दिया है । सम्बन्धों में एक दूसरे के लिए समर्पित होने का भाव केवल ढ़ोंग बन रहा है । वर्तमान अपसंस्कृति ने मनुष्य को पूरी तरह संवेदनशून्य बना दिया है । चाहे वह व्यक्ति के निजी संबंधों में हो, परिवार में हो या समाज में समाज के सभी व्यक्तियों को समान अधिकारों से वंचित रखने वाली व्यवस्था में हम एक विकल्पहीन आत्मसमर्पित जीवन जीने के लिए मज़बूर हो जाते हैं । मूल्यों का विघटन, अनैतिकता का राज आज की स्थिति में बरकरार है । ऐसे समाज में कोई भी सुरक्षित नहीं है । नारी सदियों से अपनी नियति को कोसते हुए जीने के लिए अभिशप्त है । लेकिन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह अपने अस्तित्व के लिए लड़ रही है । समाज में अपनी एक जगह बनाने में भी वह कामयाब हुई है । स्त्रियाँ जो कल तक पति अथवा पुरुष पर निर्भर थीं आज सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर हो गयी हैं । इन तमाम सामाजिक यथार्थों की अभिव्यक्ति में उपर्युक्त नाटक सफल हुए हैं ।

❖ ❖ ❖

चौथा अध्याय

समकालीन मिथकीय नाटक: राजनीतिक परिदृश्य

प्रस्तावना

इतिहास एवं पुराण की कथाओं को आधार बनाकर समकालीन जीवंत परिस्थितियों को उजागर करके रचना में नया सौन्दर्य उत्पन्न करना समकालीन हिन्दी नाटकों का एक महत्वपूर्ण प्रयोग सिद्ध हुआ है । समकालीनता की इन अतीतोन्मुखी रचनाओं में इतिहास और पुराण के प्रति नाटककारों का एक खास दृष्टिकोण है जो पूर्ववर्ती परंपराओं की लीक से हटकर उभर आया है । अतीत की घटनाओं की बारीकियों में उलझे बिना नाटककार इतिहास और पुराण को एक अविभाजित काल-खण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए मानवीय सत्य की खोज में जुडे रहते हैं । इस अध्याय में समयुगीन राजनैतिक खोखलेपन की यथार्थ स्थितियों को उजागर करनेवाले मिथकीय नाटकों की चर्चा करने का विचार है ।

राजनीति किसी भी देश का सामूहिक यथार्थ है । मानव-जीवन पर आदिकाल से ही इसका प्रभाव पडा है । आज किसी भी समाज की गति को निर्धारित करने में राजनीति का महत्वपूर्ण हाथ है । आज समाज से राजनीति को पृथक करना मुश्किल है क्योंकि सामाजिक गतिविधियों की पूरी जिम्मेदारी आज राजनीति के हाथों में हैं। भारत अनेक राजनैतिक विसंगतियों से गुज़र रहा है । भारतीयता की आत्मा को नष्ट करनेवाली अनेक घटनाएँ यहाँ हुई हैं। भारत को अनेक युद्धों का सामना करना पडा है । इन सभी समस्याओं का मूलभूत कारण आज की कुटिल राजनीति है । षड्यन्त्रों से रचित आज की राजनीति में आम आदमी की नियति नाजुक है । राजनीति के घिनौनेपन और उससे उपजी जीवन विरोधी परिस्थितियाँ आधुनिक समाज को निगल रही हैं । ऐसे सन्दर्भ में भी हम प्रतिक्रियाविहीन होकर खडे हैं । अपना विरोध अख्तियार करने का समय पार कर चुका है । राजनीति में जो असंगत स्थितियाँ हैं उन स्थितियों ने राजनैतिक मूल्यों को राजनीति से दूर कर दिया है । लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था को अन्य शासन व्यवस्थाओं से अधिक कुशल एवं सशक्त माना जाता है । इसमें सार्वजनिक सन्दर्भ में लोकतंत्र अधिकार एवं सत्ता हासिल करने का तंत्र है । दल प्रणाली लोकतंत्र को भ्रष्ट करने में अधिक सहायक सिद्ध हुई है । लोकतंत्र की सफलता के लिए एक ऐसे समाज का होना अनिवार्य है जो सहिष्णु एवं उत्तम वृत्ति का हो । इन तमाम पहलुओं की चर्चा समकालीन मिथकीय नाटकों में हुई हैं। इस पर और आगे विचार किया जाएगा ।

समकालीन भारत का राजनीतिक परिवेश

"राजनीति वह नीति है जो राज्य की रक्षा और शासन द्वारा किसी राज्य को दृढ़ करने का उपाय बताती है ।"[1] राजनीति का पूरा संबंन्ध राज्य की जनता से है और उसके कार्यकलाप रहन-सहन, संस्कृति एवं जीवन पद्धति से है । एक नियम बद्ध व्यवस्था के अन्तर्गत यह सब होता है । समाज में एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित करना राजनीति का लक्ष्य होना चाहिए । "राजनीति कई तरह की होती है । एक राजनीतिक प्रक्रिया वह होती है, जिसके ज़रिये परिवर्तन लाया जाता है, जिसके ज़रिये विचारों का सृजन होता है, जिसके ज़रिये अव्यावहारिक लगनेवाले स्वप्नदर्शी विचारों को धरती पर उतारा जाता है, जिसके ज़रिये क्रांतियों का आयोजन किया जाता है । ऐसी प्रक्रिया जब चलती है तो उसके पीछे की राजनीति में एक नैतिक तत्व होता है, एक मूल्य प्रणाली होती है जो सारी दुनिया के लोगों पर अपना असर डालती है।"[2] राजनीति अपने संपूर्ण अर्थ में राष्ट्र के वर्तमान और भविष्य के निर्माता है । किसी भी राष्ट्र के अस्तित्व का मूलाधार आज राजनीति है । प्रत्येक देश की राजनैतिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था आपस में घुल-मिल गयी है । प्राचीन काल से ही यह व्यवस्था चली आ रही है ।

समकालीन संदर्भ में राजनीति के कई आयाम हैं। भारत में वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था का सूत्रपात साठ साल पहले हुआ था । इतने सालों के अंतराल में भारतीय समाज कई तरह के राजनैतिक अंतर्विरोधों से गुज़रा है । राजनीति की जिन धाराओं से वर्तमान भारत गुज़र रहा है वहाँ अराजकता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद आदि को ही प्रश्रय मिल रहा है। लोकतांत्रिक मूल्यों की हत्या राजनीति के नाम पर राज्य के प्रत्येक कोने में हो रही है और जातिवाद की चालों से चलती समकालीन राजनीति भारत के सबसे दर्दनाक अभिशाप बन चुकी है । राजनीति के मूल आदर्शों को लेकर स्वतंत्रता मिलने के बाद जो सपना

---

1. मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव (सं) - ज्ञान शब्द कोश पृ. सं. 682
2. रजनी कोठारी - भारत में राजनीति कल और आज, पृ,सं. 25

देखा गया, वह अराजकता, अवसरवाद, अधिकार मोह आदि में तब्दील हुआ था । भविष्य के प्रति जो आकांक्षाएँ थीं और जो यथार्थ सामने आये वे बहुत निराशाजनक स्थापित हुए । स्वतंत्रता के समय में महात्मागाँधी जिन आदर्शों को लेकर संग्राम के क्षेत्र में निकल पडे उन आदर्शों को आत्मसात कर कई लोगों ने उनका साथ दिया । धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र आदि से पूरे स्वराज्य का विराट एकीकरण उनका एकमात्र लक्ष्य था । लेकिन आज़ादी ने उनके सभी आदर्शों को नकारा । अधिकार हासिल करना या अधिकार की स्थापना राजनीति का मूल लक्ष्य बना -"गाँधी जी की वैचारिक महानता और उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति को तो राजनेताओं ने गदगद भाव से स्वीकार किया, पर वे उनके बतायी राह से हटते गये । नयी राजनीति में न तो प्रखर राष्ट्रीयता रही, न समर्पित सेवा भाव । सिद्धान्त रहे पर उन पर अमल कम होता गया। धीरे-धीरे एक नयी राजनीतिक संस्कृति विकसित हुई जिसने देश प्रेम और राष्ट्र निर्माण के आदर्शों को औपचारिक रूप से तो नहीं त्यागा, परन्तु जिसकी बनावट में काफी फर्क आया और जिसका चरित्र पूरी तरह बदल गया ।"[1] इस प्रकार स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जो राष्ट्रीय मान्यताएँ पनपे वे आज राजनीति के ठेकेदारों के निजी हितों को पूरी कर रही हैं ।

भारतीय चिन्तन धाराओं में कई तरह के आदर्श एवं विचारधारायें समाहित हैं, लेकिन उसका गलत प्रयोग आज हो रहा है । इन आदर्शों को प्रयोग में लाकर राष्ट्र के भविष्य को निर्धारित करना किसी का लक्ष्य नहीं रहा है । आज भी भारतीय समाज किसी सुरंग में भटक कर रास्ते तलाश रहा है । प्रबुद्ध भारतीय नागरिक इन समस्याओं से अवगत होकर भी बेजान बनते जा रहे हैं या प्रतिक्रियाविहीन । धार्मिक कट्टरता और आतंकवाद जैसी भीषण समस्याएँ बडे पैमाने पर समाज में बढ़ रही हैं। भारतीय संस्कृति के जो मूल आदर्श हैं जिन्हें हम ने विश्वबन्धुत्व, अनेकता में एकता आदि नामों से अभिहित किया है, उन सबका अर्थ आज बदल चुका है । आज विश्वबन्धुत्व का अर्थ लोक राष्ट्रों से विधेयता है । क्योंकि एक कर्जदार एवं

---

1. श्यामाचरण दुबे- (सं)-भारत का राजनीतिक संकट. पृ. 21-22

विकस्वर देश विश्वबन्धुत्व के भाव को किसी भी प्रकार छोड़ नहीं सकता । कर्मेन्दु शिशिर का कथन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है -"हमारे देश में सोच के स्तर पर एक जटिल ढ़हराव है। यह ठिठकन भी हमें गंभीर आत्मालोचन को विवश नहीं कर सकी तो हमारी गुलामी असंभव नहीं होगी । जिस विश्व बैंक को गुलामी का दैत्य कहते थकते नहीं उसके संस्थापक देशों में भारत भी एक रहा है, वह हमें प्रत्यक्षतः कर्ज को विवश नहीं करता - हम खुद उसके दरवाज़े जाने को विवश हैं ।"[1]

राजनीति का परम लक्ष्य आज शक्ति और अधिकार हासिल करना रहा है । जिनके पास धन और बाहुबल है वे राजनीति के ठेकेदार बने हुए हैं । वर्तमान राजनीति जिस अस्थिरता के दौर से गुज़र रही है यदि वह ऐसा ही चलती रहेगी तो अराजकता का राज ही यहाँ स्थापित होगा । वर्तमान राजनीति में नैतिक मूल्यों का ह्रास होता हुआ दिखाई दे रहा है। तत्कालीन राजनीति के जो उन्नायक हैं वे राजनीति का गलत उपयोग कर अपने को ही पोषित कर रहे हैं। नैतिक सीमाएँ लाँघना उनके लिए उपलब्धियाँ अख्तियार करने के उपायों में एक है । लोकतंत्र को इन उपायों में एक माना जा सकता है । साठ साल पहले भारत में लोकतंत्र को अपनाया गया था । लोकतंत्र हो या किसी भी राजनीतिक व्यवस्था हो उसकी पहली शर्त होनी चाहिए समाज । भारत इस शर्त को बनाये रखने में कई मोड़ में हारा है । भारतीय लोकतंत्र पर यह आरोप है कि वह पश्चिम की नकल है । यह सच भी निकला है । दरअसल, भारतीय परंपरा में लोकतंत्र को गढ़ा जा सकता है । पश्चिम की नकल संवैधानिक, प्रशासनिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती है । "भारतीय लोकतंत्र की शुरुआती डिज़ाइन को सरसरी तौर पर देखें तो वह कहीं से भी मौलिक नज़र नहीं आती । जब भी आज़ाद भारत के लिए लोकतंत्र का खाका खींचने की कोशिश की गयी, यह लगा कि यहाँ पश्चिम के उदारतावादी लोकतांत्रिक अनुभव की नकल करने की योजना बनायी जा रही है । राष्ट्रवादी नेताओं के भाषणों और

---

1. कर्मेन्दु शिशिर (सं) - नवजागरण और संस्कृति -पृ. सं. 15

लेखन से भी यही बात सामने आती है और संविधान सभा की तमाम बहसें भी पश्चिमी लोकतंत्रों के बडे चाव से दिये गये उद्धरणों से भरी पड़ी है, निस्सन्देह भारतीय संविधान की आधारभूत संरचना को यूरोपीय और अमेरिकी परंपराओं से सायाम उधार लिया गया था ।"[1] भारत ने हमेशा दूसरे देशों से आई संस्कृति और विचारधाराओं को स्वीकार किया है लेकिन जो तत्व उसकी आत्मा को विनष्ट करने की चेष्टा करता है उसे स्वीकार करना कभी भारतीयता नहीं है -"यह देखना नेतृत्व का कार्य है कि बाहर बह रही वह वायु शुद्ध है या अशुद्ध जो राष्ट्र का प्रहरी है उसका यह दायित्व है कि वह सजग रहे और जब कभी भी बाहर तेज़ अंधड आये और भारतीयता को उखाड फेंकने की चेष्टा करे, यह देश अपनी खिडकियाँ और दरवाजे बंद कर सके, इतना विवेक उसके पास होना चाहिए ।"[2] राजनीतिज्ञों के लिए लोकतंत्र जनता के लिए न होकर अपने लिए ही स्थापित हुआ है । इस तरह की राजनीति कभी नीति प्रधान नहीं होती । राजनीति के नकारात्मक तत्वों को समाप्त करने केलिए सत्ता कभी कोई विकल्प नहीं ढूँढ़ती क्योंकि इन नकारात्मक तत्वों के द्वारा ही आज की राजनीति गठित हुई है। इन नकारात्मक तत्वों में सबसे अधिक प्रश्रय आज जातिवाद को मिल रहा है। और यह आज राष्ट्र के विकास की धारा को विघटित कर रहा है । लोकतंत्र में जातिवाद ने अपनी एक नयी संस्कृति गढ़ ली है । जातिवाद चुनाव में वोट बटोरनेवाला सशक्त हथियार है । अल्पसंख्यवाद भी आज की राजनीति में संकीर्ण रूप से सुनता जा रहा शब्द है । जाति और संप्रदाय के दायरे से बाहर खुले सोच की संभावनाएँ खतम हो गयी हैं । आज भारतीय समाज अल्पसंख्यकों एवं बहुसंख्यकों में बाँटा हुआ है । हिन्दु, मुसलमान, सिख व ईसाई ही भारत में रहते हैं । यहाँ तक कि जनगणना आयोग भी मजहबी आधार पर जनगणना करता है । राजनीति में जातिवाद आज बहुत दूरगामी परिणामों का कारण बन रहा है- "राजनीति में मतविभिन्नता का होना स्वाभाविक है पर यदि मतविभिन्नता विद्वेष और शत्रुता में परिवर्तित होने लगेगी तो लोकतंत्र खतरे में पड

---

1. अभयकुमार दुबे (संपादक) -लोकतंत्र के सात अध्याय, पृ. सं. 35
2. नरेन्द्र मोहन - आज की राजनीति और भ्रष्टाचार, पृ. सं. 30

जायेगा । लोकतंत्र में राजनीतिक छुआछूत तो सामाजिक छुआछूत से भी घातक व विनाशकारी है ।"[1]

भारतीय राजनीति को आज आतंकवाद से बहुत चोट पहुँच रही है । राजनैतिक लाभों के लिए बनाए गए जातिवाद और वंशीयवाद आदि समाज पर आज तीखे प्रहार कर रहे हैं । आतंकवाद को पोषित करनेवालों में कई विदेशी शक्तियाँ भी शामिल हैं । राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय माफियाओं से जुडे ये लोग आज पूरे विश्व को आतंकित कर रहे हैं । हर राजनैतिक दल अपनी सत्ता एवं जगह बनाये रखने की भागदौंड़ में राष्ट्र की सुरक्षा को नज़रअन्दाज़ करता है । ऐसी घोर समाजविरोधी ताकतें भारत की मिट्टी में अपनी जडें जमा चुकी हैं ।

भारतीय राजनीति में दलों का बाहुल्य लोकतंत्रात्मक प्रणाली का गला घोंट रहा है । आपस में द्वेष और सत्ता प्राप्ति की होड रखनेवाले दल जनहित एवं देश रक्षा को दूसरा स्थान ही देते हैं । प्रथम स्थान हमेशा अधिकार को ही दिया जाता है । परस्पर नीचा दिखाना और दिन-ब-दिन दल बदलनेवाले राजनीतिक अपनी इन हरकतों में व्यस्त हैं । क्योंकि जिस दल में आर्थिक बल एवं बाहुबल है वही दल हमेशा सेहतमंद होता है । चुनाव में वोट बटोरने के लिए झूठे आश्वासन देना और चुनाव के बाद सब कुछ भूल जाना, सदियों से यही नीति राजनीति में चल रही है । इन सब के पीछे जनता मूक एवं प्रतिक्रियाविहीन प्राणि बन कर खडी है ।

राजनीति का अगला तत्व काला धन है । काले धन के बिना वर्तमान राजनीति चल नहीं सकती । राजनीति बहुत महँगी हो रही है । चुनावों में करोड़ों रुपयों का खर्च एक अनिवार्यता बन चुका है । भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह का कथन है - "कालाधन आज राजनीति की गाडी का पेट्रोल बन चुका है।"[2] वर्तमान राजनीति ऐसे कई ताकतों से टकराकर, कभी विधेय होकर समाज के लिए नीति का निषेध कर रही है । कालेधन

---

1. नरेन्द्र मोहन -आज की राजनीति और भ्रष्टाचार, पृ. सं. 47
2. वी.पी. सिंह -राजनीति और नैतिकता के सवाल (लेख) हंस

के संबंध में हरिकृष्ण निगम का भी विचार उल्लेखनीय है -"हर आम चुनाव के समय इस बात की चर्चा चलती है कि काले धन या विदेशी धन का प्रयोग हो रहा है और कुछ दिनों बाद यह बात ठंडी पड़ जाती है । फिर कभी-कभी सफाई के तौर पर ये टिप्पणियाँ भी की जाती हैं - रोग की जड़ इस तथ्य में है कि चुनाव इतने खर्चीले हो गए हैं कि सामान्य आदमी के लिए सफलतापूर्वक चुनाव लड़ना लगभग असंभव है । इसलिए जब किसी को चुनाव के लिए पैसा मिलता है, तो वह इसकी बहुत ज़्यादा छानबीन नहीं करता है कि पैसा कहाँ से आया ?"[1]

राजनीति के विभिन्न आयाम

राजनीति आज जीवन के हर क्षेत्र में व्यापक है । राजनीति के बिना समाज संबन्धी कोई भी कार्य आगे नहीं बढ़ सकता । समकालीन राजनीति के अंतर्गत चर्चित करने योग्य अनेक आयाम हैं । राजनीति में शासन, चुनाव, नेता आदि की मुख्य भूमिका है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय जनता को अनेक प्रकार के राजनैतिक एवं सामाजिक विसंगतियों से गुज़रना पड़ा था । इन विसंगतियों की पृष्ठभूमि में समकालीन नाटककारों ने अनेक नाटकों की रचना की । अधिकांश नाटकों में मिथकीय पात्रों व संदर्भों के अंतर्गत विसंगतियों का चित्रण हुआ । समयुगीन राजनैतिक यथार्थ की सार्थक अभिव्यक्ति इन नाटकों में देखी जा सकती है।

शासन-सत्ता

शासन तो वह नीति है जिसके द्वारा राज्य में सुप्रबन्ध और शांति स्थापित की जाय। वर्तमान स्थिति में शासन की नीतियों में बहुत अधिक बदलाव आया है । सत्ता को किसी भी तरह अपने हाथों में बनाये रखना शासन की प्रथम नीति है । आज के सन्दर्भ में सत्ता हासिल करने या अपने में सुरक्षित रखने केलिए शासन के अनेक तरीके हैं। जहाँ शासन का लक्ष्य सत्ता

---

1. हरिकृष्ण निगम -नई सहस्राब्दीः आज के प्रश्न और संभावित समाधान, पृ. सं. 121.

और सुविधा प्राप्त करना होता है वहाँ शासन आदर्शहीन एवं दुविधाग्रस्त हो जाता है-"विकसित हो रहे लोकतंत्र के समानांतर ओछी राजनीति, षड्यंत्र, अवसरवाद, भाई-भतीजावाद आदि तेजी से फले-फूले हैं। सत्ता ने इन्हें समाप्त करने केलिए कोई तप्तरता नहीं दिखाई, क्योंकि वह स्वयं इनकी शरणस्थली रही है । यही कारण है कि वर्तमान काल में शासक अथवा नेतागण को नैतिक मूल्यों की दृष्टि से हेय समझा जाता है । इधर राजनीति का इस्तेमाल जिस ढ़ंग से किया जा रहा है, उससे समस्त राजनीति अविश्वसनीय एवं मानवद्रोही जान पड़ती है।"[1] भारतीय समाज ने अनेक प्रकार के संघर्षों एवं गुलामी से लड़कर अपनी शक्ति का परिचय दिया था । उच्च मानवमूल्यों के प्रति लोगों की गहरी आस्था थी । लेकिन आज समाजविरोधी ताकते चारों तरफ अपनी जड़ें जमा चुकी हैं । ऐसी स्थिति में शासक और शासितों के बीच जो संबन्ध होना चाहिए उसे विभाजित कर दिया गया है । इन परिस्थितियों ने शासकीय नीतियों का ह्रास कर दिया है । इस तरह के भ्रष्ट एवं निजी स्वार्थों से प्रेरित राजनीति ने समाज में बिखराव की स्थिति पैदा की है ।

वर्तमान युग के राजनैतिक खोखलेपन को व्यक्त करनेवाले डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में 'नरसिंह कथा' का अपना विशेष महत्व है । इस नाटक में भारत के आपातकालीन युग को दर्शने की कोशिश नाटककार द्वारा हुई है । लेकिन भारत की राजनीति में सामाजिक दबाव का सिलसिला अभी भी चल रहा है । "नरसिंह कथा" नाटक इस स्थिति को प्रभावी ढ़ंग से व्यंजित करता है । आज सत्ता से ऊपर कोई भी शक्ति नहीं है । अपने अधिकार द्वारा जनता को दबाकर रखना नाटक में वज्रदंत की बातों से व्यक्त होती है । निरंकुश सत्ता का प्रतीक हिरण्यकशिपु अपने ऊपर किसी भी तरह की शक्ति को नहीं मानता । वह जनता को अपने अधिकारों से वंचित रखता है ।

---

1. डॉ. रमेश गौतम (सं) -नाट्य-विमर्श, पृ.सं. 225-226

"वज्रदन्तः राजा के अलावा यहाँ और कोई शक्ति नहीं । राजा के अलावा किसी और की ताकत पर विश्वास करना सरासर राजद्रोह । यहाँ किसी भी अपराध की सजा मौत । कल प्रातःकाल एक प्रहर दिन चढ़े, राजदरबार से दायीं ओर के कमरे में आकर अपने प्रमाण-पत्र, पहचान-पत्र, प्रवेश-पत्र, अनुमति-पत्र, सत्र खत्र वगैरह ले जाना, जाना ?

जय : तू भी इतना डरपोक ?

विजय : गुरुजी मत कर इतना शोक ।

वज्रदंत्तः सीधे जाकर दायीं ओर मुड़ना मना । ध्यान रहे-राजमार्ग पर चलना, बोलना, खिडकियों से बाहर देखना, किसी तरह का शोर मचाना मना । दिन को सोना मना । कहीं कुछ कहना-सुनना अफवाहें फेलाना देश के साथ गद्दारी । राजधर्म के अलावा किसी और धर्म की चर्चा करना अपराध ।"[1]

आपातकाल को व्यांजित करते हुए समकालीन समय में भी यह शब्द सटीक और सार्थक बन गया है । हिरण्यकाशिपु और प्रह्लाद युग यथार्थ के सन्दर्भ में मिथकीयता से बाहर निकलकर प्रत्यक्ष यथार्थ को व्यंजित करता है । प्रस्तुत नाटक के संबंन्ध में रमेश गौतम का विचार है कि "हिरण्यकशिपु मात्र पौराणिक चरित्र नहीं, आज के निरंकुश शासक का प्रतीक है । वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का घोर विरोधी है, जो आतंक और हिंसा के बल पर शासन करने में विश्वास रखता है । आपातकाल की निरंकुशता, आतंक, हिंसा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के हनन को नाटककार ने पौराणिक सन्दर्भों अथवा मिथकों द्वारा प्रामाणिकता प्रदान की है, क्योंकि भारतीय परिवेश में उक्त प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिए हिरण्यकशिपु लोक-चेतना में अच्छी प्रकार से पहचाना हुआ मिथक है । लोक चेतना में सहज स्वीकार्य एवं ग्राह्य इस मिथक द्वारा डॉ. लाल ने परिवेशगत सजगता के साथ उसके यथार्थ को प्रभावशाली ढ़ंग से उभारा है ।"[2]

---

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल -नरसिंह कथा, पृ. सं. 21
2. डॉ. रमेश गौतम-मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ. सं. 496

किसी भी प्रकार से अपना अधिकार जमाकर जनसेवा के नाम पर स्वयंसेवा करना आज की राजनीति की शर्तों में एक है । सत्ता हमेशा पूँजीपतियों से मिली हुई है । और ज़्यादातर सत्ता का संचालन पूँजीपतियों द्वारा ही होता है । क्योंकि पूंजीपति ही आज नेता बना हुआ है । वही लोग आज राजनैतिक पार्टियों का कर्णधार बना हुआ है । भारत की राजनीति आज भी रूढीवादी-सामंतवादी मानसिकता से संचालित हो रही है । ऐसे में राजनीति कभी लोककल्याणकारी सत्ता का निर्माण नहीं कर सकती । राजनीति का उद्देश्य केवल येन-केन प्रकारेणा सत्ता हथियाना ही रह जाता है । ऐसी सत्ता के नीचे जीवन यापन करना साधारण मानव की नियति है । राजनीतिक अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए सब कुछ करते हैं । लोगों के विसंगतियों को ठीक करने हेतु बनाये गये राजनीति कुछ लोगों तक ही सीमित है -"कहने के लिए लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन माना जाता है, लेकिन असलियत में वह अभिजनों का शासन साबित होता है । वह जनता के लिए तो होता है पर ज़रूरी नहीं कि वह सारी जनता के लिए हो । इस प्रकार लोकतंत्र उसी विसंगति को ठीक करने में नाकाम रहता है जिसके लिए उसकी रचना होती है ।"[1] यहाँ आम आदमी राजनीति की पहली शर्त नहीं बनती । जनता के लिए स्थापित की गयी नीति जनता का ही गला घोंट रही है । 'प्रजा ही रहने दो' में गिरिराज किशोर ने आम आदमी की इसी नियति को महाभारत के मिथकीय सन्दर्भ में दर्शाने की कोशिश की है । 'प्रजा ही रहने दो' में प्रहरियों की बातचीत जो आम आदमी के रूप में चित्रित हुआ है -

"पहला प्रहरी : यह सब कुछ व्यर्थ है । !

चौथा प्रहरी : क्यों ?

दूसरा प्रहरी : सब किसी न किसी रूप में सेवावृत्ती पर जी रहे हैं ।

तीसरा प्रहरी : वेतन भोगी होना ही स्पष्ट होता है ।

---

1. रजनी कोठारी - भारत में राजनीति : कल और आज - पृ. सं. 22

चौथा प्रहरी : क्या यह अपमान नहीं ?

पहला प्रहरीः है क्यों नहीं ? हम लोग रात भर जागते हैं, कोई आता है तो खडे होते हैं, चला जाता है तो भी नहीं बैठ पाते सोचते हैं कही लौट न आये ! प्रणाम करते हैं तो उत्तर नहीं मिलता !

दूसरा प्रहरी : हम ही नहीं दिखलाई पड़ते तो हमारा प्रणाम कहाँ से दिखलाई पड़ेगा।"[1]

राजनीति में चल रही अंधी नीतियों की ओर ही यह नाटक प्रकाश डालता है । महाभारत कालीन वातावरण द्वारा मूल्यहीन समकालीन राजनीति का यथार्थ इस नाटक में प्रस्तुत हुआ है । अंधा शासन हमेशा जनता को अंधकार में ही पडे रहने की नियति देता है । जुए जैसे खेल को राष्ट्रीय खेल घोषित करनेवाली सत्ता से इन अंधीनीतियों का अनुमान लगाया जा सकता है । समकालीन सन्दर्भ में यह यथार्थ और भी प्रखर रूप से देखा जा सकता है कि लोगों के लिए क्या हितकारी और अहितकारी है उसे पहचानने में राजनीति फेल हो गयी है । भूमण्डलीकरण के नाम पर भारत को खुले बाज़ार के रूप में प्रस्तुत करना अंधी नीतियों का ही फल है । इसके पीछे सत्ताधारियों का ही छद्म खेल है । वर्तमान समय में सत्ता द्वारा किये जाने वाले समझौते में भी यही हो रहा है -

"पहला प्रहरीः 'जुआ क्या बहुत रोचक होता है ?

तीसरा प्रहरीः दूर-दूर से लोग आ रहे हैं !

दूसरा प्रहरी : लगता है तुमने घोषणा नहीं सुनी !

चौथा प्रहरीः घोषणा या अघोषणा । सीधी सी बात है, अगर राजा जुए को राष्ट्र क्रीडा घोषित करता है तो वह अपने आदेश में मनुष्य को घास भी चरवा सकता है और"....[2]

---

1. गिरिराज किशोर - प्रजा ही रहने दो, पृ. सं. 22

तीसरा प्रहरीः और गधे को हल्वा भी खिला सकता है !"[1]

नाटककार इशारा करता है कि ऐसे देश में प्रगति या विकास का होना बहुत दूर की बात है । राजनीति में जितना स्थान आज पूँजीपतियों का है उतना स्थान अपराधियों का भी है। संसद तक ऐसे लोग शामिल हैं। राजनीति के द्वारा दिन-ब-दिन हो रहे घोटाले इन राजनैतिक अनैतिकताओं को ही सूचित करते हैं । राजनेताओं और अपराधियों का आपसी गठजोड राजनीति की मुख्य धुरी है । अपराध को रोकने के बजाय उसे बढ़ावा देने में ही वर्तमान राजनीति का अस्तित्व है । सार्वजनिक जीवन में कलह और विद्वेष पैदा कर देश की शान्ति और समाधान भंग करने के पीछे राजनैतिक लक्ष्य ही छिपे हुए हैं । सांप्रदायिक दंगे भी इसी का ही नतीजा है । ऐसी स्थिति में राष्ट्र के हित को नकारते हुए राजनीति अपने हितों का ही पोषण करती है । राजनीति के क्षेत्र में चल रही अनैतिकता को दृश्यगत कराने में प्रभाकर श्रोत्रीय ने अपने नाटक 'इला' में कोशिश की है । इसमें मनु बताता है- "मूल्य, विवेक, विधि-विधान किसी पर भी राजनीति को भूल कर विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वही हमारी प्रभुसत्ता की धुरी है"।[2]

मनु के शब्दों में साफ है कि मूल्यों को पकड कर कभी राजनीति नहीं चलती। किसी भी कीमत पर अधिकार को बनाये रखनेवाला मूल्य ही यहाँ चलता है । इला में नाटककार ने इस बात को भी दृष्टिगत कराया है ।

"सुद्युम्नः परन्तु... महाराज.. क्या राजनीति से मानव-नीति बड़ी नहीं होती ?

मनुः होती है - साधु-सन्तों केलिए... राजा के लिए नहीं । राजनीति के कारण ही हम राजा हैं ।

सुद्युम्नः वाह री राजनीति... कूटनीति... क्रूर नीति....। सत्ता के लिए प्रजा को...

---

1. गिरिराज किशोर - प्रजा ही रहने दो, पृ. सं. 17
2. प्रभाकर श्रोत्रीय, इला पृ. सं. 60

मनुष्यता को... सब को.... धूरे पर फेंक दो ! (कुछ कटु होकर मनु से) क्या आप मुझे यही शिक्षा देना चाहेंगे महाराज !"[1]

आज के माहौल में पक्ष और विपक्ष के द्वारा सत्ता प्रेम और कुर्सी प्राप्ति के लिए कुछ भी कर गुज़रने की प्रवृत्ति ही चलती है । इस सत्य को नाटककार ने 'इला' में बखूबी से दर्शाया है । मानवीयता एवं नैतिक मूल्यों का ह्रास इस नाटक में देखा जा सकता है-"शासक वर्ग की घृणित चालों को प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'इला' नाटक में बड़े सशक्त ढ़ंग से उजागर किया है । सत्ताकामी शासक मनु के लिए सिंहासन से बढ़कर कुछ भी नहीं । सिंहासन के लिए वह अपनी इकलौती संतान इला के जीवन तक से खेल जाता है ।"[2]

स्वाधीनता के दौरान जो राष्ट्रीय मान्यताएँ भारतीय समाज ने हासिल की थीं वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारी चिन्ताओं और प्रवृत्तियों में नहीं झलकीं । राजनीति के क्षेत्र से इसका अंत ही हो गया । क्योंकि उस ज़माने से ही उनके रवैये पाखण्डी और समाजविरोधी है। इन छद्मों और षडयन्त्रों के बीच ही सत्ता अपना पैर जमाकर खडी हुई है । इन विसंगतियों के बीच आदमी प्रतिक्रिया विहीन खडा है या उसे प्रतिक्रिया विहीन बनाया जा रहा है । इन छद्मों को पहचान कर आगे बढ़ने का समय पार कर चुका है । लोगों को चारों तरफ की दुनिया को नए परिप्रेक्ष्य में देखने की ज़रूरत है । अपने पैर के नीचे की मिट्टी को बचाकर यथार्थ को पहचानने की ज़रूरत है । 'नरसिंह' कथा में प्रह्लाद को एक सजग मानव के रूप में देखा जा सकता है । अन्याय के विरुद्ध वह अकेला लड़ता है । हुताशन जो प्रताड़ित जनता का प्रतीक है, उसे अन्याय के विरुद्ध सचेत करने की कोशिश भी वह करता है । उसके शब्दों में यह झलकता है -

"मुझे छोड़कर चले जाना, पर अपनी इस मातृभूमि को नहीं छोडना । अधर्म के युद्ध

---

1. प्रभाक्र श्रोत्रीय - इला - पृ. सं.
1. डॉ. रमेश गौतम (सं) - नाट्य-विमर्श, पृ. सं.229

के खिलाफ जो धर्मयुद्ध छिडा है, उसे देखने केलिए यहाँ रहना । इस सत्य का साक्षी होना दूसरे के द्वारा विश्वासघात होने पर भी मनुष्य का धैर्य विचलित नहीं होता, सुनो पर हुताशन, वह हम, तुम यहाँ अकेला नहीं । जंगल में तुम अकेले नहीं। विषमता के अंधकार में हिरण्यकशिपु यहाँ का राजा बना है । अपनी शक्ति से नहीं, हमारी कमज़ोरियों से । आर्य, अनार्य, जाति, धर्म की आपसी फूट, ऊँच-नीच सवर्ण-शूद्र के भेद में आया वह तानाशाह ।"[1]

गिरिराज किशोर ने अंधी सत्ता में दबायी या दिशाविहीन बनायी गयी जनता को प्रजा ही रहने की विवशता दर्शायी है । इसमें धृतराष्ट्र और गांधारी के अंधी सत्ता ने जनता को दिशाहीन बनाया है । अगली पीढ़ी तक को वे दिशाहीन बनायेंगे । दुर्योधन इस विकल-पीढ़ी का प्रतीक है जो कभी सत्य और न्याय के रास्ते पर नहीं चलता । अंधेपन से जन्मी नीतियों का ही पालन वे करते हैं । दुर्योधन के इन शब्दों में अंधी नीतियों में भटकने वाली जनता को देखा जा सकता है -

"इस क्षण में मान-अपमान, राग द्वेष-सभी से मुक्त हूँ काका ! किसने दिखाया हमें जीने का राजमार्ग ? कब लगे हैं अंधों को अच्छे लम्बे रास्ते ? सारी ज़िन्दगी हम सब भाई अपने रास्ते की खोज में भटकते रहे । शकुनि मामा के अलावा था कौन ? उनका अपना सोचने का ढ़ंग था । उन्होंने जीवन को युद्धभूमि न मानकर केवल चौपड़ का खेल माना । उन्होंने हमें षड्यन्त्र के रास्ते दिखाए ..... और हम सारी ज़िन्दगी एक बचाव की मुद्रा में बने रहे ।"[2]

आज की राजनीति असमंजस की राजनीति है । जनता को सत्ता के अभिजनों से विश्वास उड़ गया है । सत्ता लिप्सा ही वर्तमान राजनीति के पतन का कारण है । राजनीतिज्ञों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए जो काम किया जाता है उसमें देश की सेवा की बात उतनी नहीं होती, जितनी अपनी स्वार्थ पूर्ति की - "सत्ता का लोभ किसी भी व्यक्ति को साधु नहीं रहने

---

1. डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल - नरसिंह कथा, पृ. सं. 16
2. शंकर शेष - कोमल गांधार, पृ. सं. 68

देता है । सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट बनाती है । सत्ता प्राप्ति से एकाधिकार का भाव उत्पन्न होता है, इससे अहं उत्पन्न होता है । अहं की अधिकता भी सदैव विनाशकारी होती है । इसलिए सत्ता में आकर किसी भी व्यक्ति का ईमानदार रह पाना अत्यधिक कठिन है । भारतीय राजनीति का वर्तमान स्वरूप विकृत हो चुका है । झूठे आश्वासन, चुनावों में जनता का शोषण करना, घटिया हथकण्डों का प्रयोग करना आज के राजनीतिकों के हथियार हैं । चुनाव में जीतने केलिए उनको सफेद झूठ बोलना आना चाहिए, जनता को मूर्ख बनाना आना चाहिए।"[1]

जनतंत्र, चुनाव और नेता

जनतंत्र वही है जिससे किसी राष्ट्र की राजनैतिक शक्ति का परमाधिकार उस राष्ट्र की जनता पर ही है । जनतंत्र में दो बातें मुख्य हैं कि राष्ट्र में जनता को समानाधिकार और स्वातंत्र्य होना चाहिए । लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली में जनता द्वारा जनता केलिए चुने गये प्रतिनिधि ही शासन करते हैं । इसमें हर एक व्यक्ति को अपने निजी स्वातंत्र्य के अनुसार राजनीति को चुनने का अधिकार है । अपने मत प्रकट करने का अधिकार है और पत्र-माध्यमों का स्वातंत्र्य भी अनिवार्य है "लोकतन्त्र के अंतर्गत शासनकर्ताओं का लोकहित में संलग्न रहना अनिवार्य सा होता है क्योंकि इसमें शासन का संचालन लोकहित के लिए होता है । शासक तो शासन का अधिकार एक धरोहर के रूप में प्राप्त करते हैं जो कि इस शर्त पर प्राप्त होता है कि शासक जनता के हितों के प्रति सजग रहकर उनके कष्टों का निवारण करेंगे और शासन का प्रयोग नागरिकों के अधिकारों और उनकी इच्छाओं के अनुसार करेंगे । इसके अंतर्गत राज्य के अधिकार और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य समन्वय सुगमतापूर्ण हो जाता है।"[2]

स्पष्ट है कि लोकतंत्र के केन्द्र में आम जनता है । भारत में जनतंत्र जनता के हितों को सुरक्षित रखने में पराजित होते हुए दिखाई देता है । क्योंकि जनतंत्र की सफलता के लिए

---

1. युगबोध और हिन्दी नाटक, पृ. सं. 174
2. मनोहर पूरी, उषा पूरी- समकालीन भारत, पृ. सं. 200

एक ऐसे समाज का होना अनिवार्य है जहाँ सब कार्य सहिष्णुता एवं सीधे और सही ढंग से चलता है । भारत के सन्दर्भ में देखे तो भारत का लोकतंत्र संसार का सबसे बडा लोकतंत्र है। लेकिन लोकांक्षा और लोकसत्ता के प्रकाश में राष्ट्र हितकारी भूमिका का निर्माण भारत में नहीं हुआ है- "भारतीय राजनीति में इस समय मूल्यों एवं आचारण के मापदण्डों का संकट खडा हो गया है । राजनीतिक दर्पण में सम्पूर्ण भारत की जो छवि दिखाई दे रही है उसमें मेल, समन्वय और एकता का अभाव है । वह एक बिखराव की ओर संकेत करती है और यह बिखराव इसलिए है कि दर्पण स्वयं टुकडों में टूटा हुआ है ।"[1] भारतीय जनतंत्र पर सबसे घिनौना कलंक 1977 में आपातकाल के दौरान हुआ था । उस समय जनतंत्र की सारी मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ । लक्ष्मीनारायण लाल के "नरसिंह कथा" नाटक का केन्द्रीय पात्र हिरण्यकशिपु इस आपातकालीन शासक का प्रतीक है । उस समय की जनता की त्रस्त मानसिकता नाटक में व्यक्त है ।

नाटक का एक संवादांश देखिए -

"विजयः जहाँ सत्ता-शक्ति की भूख है वही हिरण्यकशिपु का अदृश्य सिंहासन है ।

जयः हाँ, वो रहना हमारी इच्छाओं में । साकार होता हमारी कल्पनाओं में । उसका झूठ हमारा सत्य ।

विजयः उसने हमारी धार्मिक भावनाओं का राजनीतिकरण किया । हमारी जडता अर्थहीनता को ढ़कने के लिए नये से नया कर्मकांड शुरु किया ।

जयः हमें झूठे विचार दिए । पड़ोसी हमारा शत्रु है, देश की अखण्डता संकट में है ।"

---

1. मनोहर पूरी, उषा पूरी - समकालीन भारत, पृ. सं. 213
2. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा - पृ. सं.

आपातकालीन तानाशाही

आपातकाल के समय में राष्ट्र में अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता और माध्यमों के स्वातंत्र्य पर अंकुश लगाया गया था । तत्कालीन शासकों ने भारतीय संविधान में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करके अपनी तानाशाही मनोवृत्ति लोगों पर आरोपित किया । 'कथा एक कंस की' में दयाप्रकाश सिन्हा ने कंस में यह आपातकालीन निरंकुश शासक को ही दर्शाया है । कंस के शब्दों में यह व्यक्त है -

> "कंसः भगवान श्रीकंस ! घोषणा की जाये, आज से मथुरा साम्राज्य में भगवान श्रीकंस की उपासना होगी । केवन भगवान श्रीकंस की । जो इस आज्ञा की अवहेलना करेगा उसे मृत्यु दण्ड दिया जायेगा । भक्तों को भगवान श्रीकंस अपनी अनुकम्पा से इस लोक और परलोक में सुख, सम्पत्ति और समृद्धि प्रदान करेंगे ।
>
> प्रलम्ब : जो आज्ञा !
>
> कंस : भगवान श्रीकंस! भगवान ! क्लीव स्त्रैण कंस, ! महाराजाधिराज कंस! भगवान!
>
> प्रद्योत : भगवान, मन्दिरों में भगवान श्रीकंस की मूर्तियाँ स्थापित हो चुकी हैं । नगर के सभी प्रमुख स्थानों, चौराहों, उद्यानों में भगवान श्रीकंस की पावन मूर्ति के दर्शनों के लिए हज़ारों की संख्या में मन्दिरों पर एकत्रित हो रही है । विभिन्न मन्दिरों में भगवान श्रीकंस के पूजारी नियुक्त हो गये हैं । भगवान श्रीकंस के नाम कीर्तन की मंडलियाँ साम्राज्य के विभिन्न भागों में भेज दी गयी हैं । पाँच सौ एक पण्डित भगवान श्रीकंस के नाम का जाप नगर-चौपाल में कर रहे हैं।"[1]

---

1. दयाप्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की, पृ. सं. 66

भारतीय राजनीति का यह काला खण्ड जनतंत्र पर सबसे बडी चुनौती थी । भारत का जनतंत्र संसदीय लोकतांत्रिक शासन प्रणाली पर आधारित है यहाँ लोकमन को ही निर्णायक माना जाता है । लेकिन लोकमत के बाद शासन के मत ही निर्णायक बन जाता है । "लोकतांत्रिक थियरी हमें बताती है कि लोकतंत्र में आम जनता ही केन्द्र में रहेगी । लेकिन व्यवहार में लोकतंत्र एक सांविधिक व्यवस्था को जन्म देता है जिसमें अधिकारों और कर्तव्यों का बँटवारा कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका में कर दिया जाता है । आम लोग अधिकारसंपन्न नहीं होते । जाहिर है कि जनता का सशक्तीकरण करने के सवाल पर लोकतंत्र नाकाम हो चुका है।"[1]

चुनाव

जनतंत्र में निर्वाचन की तो मुख्य भूमिका है । भारत के संविधान में सभी नागरीकों को समान रूप से बिना किसी भेद-भाव के मताधिकार के आधार पर अपने प्रतिनिधि को चुनने का अधिकार दिया गया है । अन्य देशों की अपेक्षा बिना किसी संघर्ष से भारतीय जनता को यह अधिकार प्राप्त हुआ था । अठारह वर्ष के सभी नागरिकों को यहाँ निर्वाचन अधिकार प्राप्त है। जनतंत्र में परोक्ष रूप से लोगों के हाथों में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से सत्ता रहती है। प्रतिनिधियों की आवश्यकता इसलिए है कि समाज में व्याप्त सार्वजनिक समस्याओं को समाज के सभी लोग एक साथ नहीं मिटा सकते । इसके लिए कुशलता, ईमानदार, जनसेवा करने की इच्छा, आत्मबल आदि से युक्त लोगों की आवश्यकता है । समस्याओं को समझने और उसे सुलझने का सामर्थ्य रखनेवाले व्यक्ति को जनता से ही निकालकर जनता द्वारा ही चुना जाता है । "भारतीय लोकतंत्र निर्वाचित प्रतिनिधियों की सरकार द्वारा नियमित एवं संचालित होता है। फलतः इसकी सरकार अन्ततः जनता के प्रति उत्तरदायी है । संविधान में यह प्रयास किया गया है कि अधिक से अधिक लोक सत्ता में सक्रिय रूप से भागीदारी करे । इस बात पर भी ध्यान

---

1. रजनी कोठारी-भारत में राजनीतिः कल और आज, पृ. सं. 34

दिया गया है कि लोगों का जीवन स्तर इस प्रकार का न हो कि वह राजनैतिक प्रक्रिया से उदासीन हो जाएँ अथवा अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण राजनीति से कट जायें । संविधान निर्माताओं का यह स्वप्न था कि हमारा लोकतंत्र नागरिकों के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी पक्षों का पोषक हो ।"[1] जाहिर है कि प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली में चुनाव को अधिक महत्व दिया गया है । जनता द्वारा चुने गये नेता आज जनतंत्र और चुनाव के नाम पर जनता का ही शोषण कर रहा है । निर्वाचन मैं नैतिक मान्यताओं का ह्रास होता हुआ दिखायी दे रहा है । यह स्थिति आज भारत में प्रजातंत्र की जड़ें खोद रही है । जनता के लिए खडे होने वाले नेता को 'कबिरा खडा बाज़ार में' के कबीर में देख सकते हैं। कबीर इसमें विरोधी ताकतों से लडकर समाज सेवा करता है । लेकिन अधिकारी वर्ग उसे दबाने की कोशिश जारी रखता है । कबीर को कई परेशानियाँ झेलनी पडती हैं । क्योंकि सत्ताधारी नहीं चाहते कि सामाजिक माहौल ठीक-ठाक चले ।

"नीमा : तू यह क्या करता फिरता है, कबीर, मेरा दिल कहलता है । जिन लोगों के हाथ में ताकत होती है, उन लोगों के दिल में रहम नहीं होता बेटा । तू अपनी औकात देख । तू मेरी बात मान बेटा, तू सुनकर अनसुनी कर जाया कर, पर मूँह से कुछ न बोला कर....

नीमा आगे कहती है -"बडे-बडे मुल्ला-मौलवी पण्डित सवाल पूछने के लिए बैठे हैं, बेटा तू न पढा न लिखा, तू अपना काम देख, तुझे सवालों से क्या पडी है ?" तब कबीर बोलता है - कहती तो, ठीक हो माँ, पर मन में सवाल उठते ही रहते हैं । और जब उनका जवाब नहीं मिलता तो मन बेचैन हो जाता है ।"[2] कबीर इसमें ऐसा इनसान है कि जो कभी अन्याय के आगे अपनी आँखें बन्द नहीं करता । इसके लिए वह किसी भी तरह के खतरे से जूझने के लिए तैयार हो जाता है । क्योंकि राजनीति में न्याय और अन्याय के बीच की दूरी बहुत लंबी है । शासकीय

---

1. मनोहर पुरी, उषा पूरी - समकालीन भारत, पृ. सं. 217
2. भीष्म साहनी - कबिरा खडा बाज़ार में पृ. सं. 25-26

अन्याय के विरुद्ध खडे होनेवाले एक जननेता के संघर्ष को या एक कठोर शासन व्यवस्था को चुनैती देने का धैर्य रखनेवाले जननेता को 'यमगाथा में पुरुरवा के मिथक द्वारा दूधनाथ सिंह ने दिखाया है । पुरूरवा के इन शब्दों में सच्चे जननेता का सही रूप उभरता है -

> "समगृहित्रि, सभी ग्रामों, पुरों और जनपदों में निर्देश भिजवा दो कोई भी मनु पुत्रों को बलि और भाग नहीं देगा ब्राह्मणों और पुरोहितों के कहने पर कोई भी यक्ष केलिए घृत, गौधूम, गौवें और स्वर्ण नहीं देगा । क्योंकि हम इस लूट के धन्धे को आज से सदा के लिए बन्द करते हैं । ऋषि-कुलों से कहो कि वे महर्षि वसिष्ठ से तत्काल परामर्श करें... सेनापति ! राज्य की सीमाओं पर तत्काल सेनायें भेज दो। जहां भी यज्ञ-धूम उठ रहा हो उसे तुरन्त बुझा दो । यज्ञ-वेदियों को नष्ट कर दो। और सारथी से कहो हमारा रथ तुरन्त तैयार करो । हम अभी अग्नियाँ लाने के लिए इन्द्रपुरी प्रस्थान करेंगे। प्रतिनिधि-गण ! जाकर ग्रामों, पुरों और जनपदों में यह शुभ-समाचार तुरन्त दीजिए कि आप अंधेरे में नहीं रहेंगे !"[1]

पुरुरवा इसमें इन्द्र जैसे सत्ताधारी शोषकों के बारे में लोगों को बताना चाहता है । इन्द्र सारी ताकत और अधिकार को अपने में ही सीमित रखना चाहता है । इसके लिए वह लोगों के ऊपर दमननीतियाँ चलाता रहता है । वह मानवीयता की सीमाओं को पार करता है । लोगों को अग्नि न देकर वह उसे अंधकार में पडे रहने की नियति थोपता है । सत्ताधारी शासक के आगे केवल मैं, मेरा या अपना ऐसे ही शब्द गूँजते रहते हैं । इन्द्र सत्ता प्राप्ति के लिए अपने पिता तक को खत्म करता है । इन्द्र कहता है - "मेरी कल्पना से सिर्फ 'मैं होता हूँ । 'मैं' ही था ओर 'मैं' ही रहूँगा । यह ब्राह्माण्ड मेरे होने से है और मेरे होने से ही रहेगा । इसका औचित्य-अनौचित्य सभी कुछ मैं हूँ फिर भी कोई न कोई सिरफिरा खडा हो जाता है ! आखिर क्यों "[2]

---

1. दूधनाथ सिंह - यमगाधा, पृ,सं. 17
2. वही, पृ. सं. 18

नेतागिरी

आज के जनतंत्र में आम आदमी की ज़रूरतों को अनदेखा कर दिया जा रहा है । जनतंत्र आज केवल चुनाव के समय में ही महत्व पाता है । नेता या राजनीतिक दल आज व्यक्तिवादी राजनीति करके जनतंत्र की नीतियों को तोड रहा है । भारतीय राजनीति में दल और नेताओं का बाहुल्य इतना है कि गिना नहीं जाता । हर राजनीतिक दल अपने अपने सिद्धांतों को लेकर जनता के सम्मुख जाता है लेकिन सिद्धांत अन्दर ही अन्दर रह जाता है कभी उसे लागू नहीं किया जाता । राजनेता जनाकांक्षाओं और उनकी भावनाओं के साथ खिलवाड करते हैं । भारतीय जनतंत्र ने स्वार्थ सिद्धि एवं सत्ता हथियाने के लिए वोट की राजनीति और दलों को ताज़ा करके रखा है । राजनीतिक ऐसे कार्यों में अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहा है । छोटे से लेकर बडे नेताओं तक का उद्देश्य सत्ता है । नेतागण निर्वाचन के समय देश प्रेम और जनसेवा के कार्यों में अधिक उत्सुक दिखता है । लेकिन निर्वाचन के बाद अधिकार प्राप्त करते ही सब कुछ भूल जाता है । सामाजिक विकास की योजनाएँ और झूठे वायदे कागज़ में ही रह जाते हैं । लोकतंत्र में एकरसता एवं शांति लाने में भारतीय संविधान भी पराजित हुआ है । भारतीयता आज मतभेदों की दीवारों से जकड़ी हुई है । इन दीवारों को तोड़ने की कोशिश किसी भी ओर से नहीं हो रही है । क्योंकि ऐसे लोग भारतीयता को बनाये रखना नहीं चाहते। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ती की भागदौड में लोकसेवा का भाव लुप्त सा हुआ है । समकालीन राजनीति ने मूल्य एवं आदर्शों को खो दिया है । मूल्यविहीन राजनीति के महत्वाकांक्षी रूप 'कोमल गांधार' की गाँधारी में देखा जा सकता है । गांधारी ने सत्य और मूल्यों के आगे अपनी आँखों पर पट्टी बाँध के बन्द कर दिया था । अपनी महत्वाकांक्षा को बनाये रखने के होड़ में वह अपनी जिम्मेदारियों से विचलित हो जाती है । अपने महासतीत्व की भावना को वह अक्षुण्ण रखती है । इसे बनाये रखने केलिए वह स्वयं टूटती है और दूसरों को

भी तोड़ती है । राजनीति के सन्दर्भ में देखा जाय तो पता चलता है कि दल और नेताओं की महत्वाकांक्षा ने सारे अधिकारों को अपने हिस्से में कर लिया है । कोमल गांधार में शंकर शेष ने भीष्म को आधुनिक राजनीतिज्ञों के प्रतिनिधि के रूप में दिखाया है । गाँधारी को इसमें आम आदमी की संज्ञा दी जा सकती है । भीष्म ने गाँधारी को छल और कपट से लाकर राजनैतिक उद्देश्यों की मुहर बनाया था । वर्तमान राजनीति में भी जनता सत्ता हासिल करने का एक मुहर है ।

> "भीष्म : तुम साधारण सी बात को कुछ ज़्यादा ही महत्व दे रहे हो । इस विवाह में न तो महत्व है इस लडकी का और न ही धृतराष्ट्र का ...
>
> संजय : और इसके बाद भी विवाह...
>
> भीष्मः कौरवों को उत्तराधिकारी नहीं चाहिए क्या ! उसके लिए ज़रूरी है दो शरीर... और एक कर्मकाण्ड"...[1]

राजनीतिज्ञों के छल-कपट का स्पष्ट चित्र शंकर शेष ने इस नाटक में खींचा है । राजनीतिज्ञों के द्वारा जितने भी काम किये जाते हैं उसमें समाज के हित के अलावा राजनीतिक हित ही चलता है । आम आदमी अपनी नियति की चक्की में पिसता ही रहता है । दूषित राजनीति के प्रभाव से गांधारी द्वारा अपनी आँखों में पट्टी बाँधना भयंकर त्रासदी है जो एक विकल समाज को व्यंजित करता है । गांधारी अपने जीवन के अंत तक अन्दरद्वन्दों की जकड़ में रहती है । उसके मन में विद्वेष की अग्नि सदैव जलती रहती है । अंत तक वह इस अग्नि को अपने अन्दर रखती है । इसमें कुछ लोगों के सुख के लिए अधिकांश की ज़िन्दगी को विभाजित कर दिया गया है । शंकर शेष ने संजय के शब्दों में यह स्पष्ट किया है - "जीवन

---

1. शंकर शेष, कोमल गांधार, पृ. सं. 13

अपने आप में कभी शक्ति नहीं होता, महाराज ! ....थोडे से लोग अधिकांश लोगों के लिए उसे शापित बना देते हैं ।...

गांधारी में साधारण जनता को दिखाया गया है । दूषित राजनीति ने व्यक्ति की अस्मिता को भ्रष्ट कर के उसे स्वयं की ही दृष्टि में गिरा दिया है । 'कोमल गांधार' में यह साधारण जनता मर कर जीने की नियति भोगती है । ज़िन्दगी बनाये रखने के होड़ में जनता विचलित हो गयी है ।

भारतीय लोकतंत्र की संरचना पश्चिमी लोकतंत्र की नीतियों से बनायी गयी है । इसकी बहुत कमियाँ भी भारत में दिखायी जाती हैं । भारत में स्वतंत्रता के बाद जनतंत्र की स्थापना हुई थी । भारत में नेहरु के शासन काल में आर्थिक विकास और दूरदर्शी सामाजिक नीतियों का सूत्रपात हुआ लेकिन इसके बाद इंदिरा गाँधी के शासन काल में भारत के विकास का क्षरण होता गया । उसकी अधिनायकवादी वृत्ति ने समाज पर आपातकाल की नियति थोप दी । देश पूरी तरह अस्थिरता एवं संकट के दौर से गुज़रा । भारत में जनतंत्र का अंत घोषित किया गया । इन सब से गुज़रकर भारत आज साठ साल पार कर चुका है । आज जनतंत्र का अर्थ निर्वाचन, नेता, दल आदि में सीमित है । इसमें नेताओं का ही अधिक महत्व है । क्योंकि नेताओं एवं प्रतिनिधियों के अलावा राजनीति नहीं चलायी जा सकती । पार्टियों और नेताओं के अलावा निर्वाचन भी नहीं होता । इसलिए चुनाव, नेता, दल आदि बेशक जनतंत्र के अविभाजित अंग हैं -"नेता, उनके आस-पास बने गठजोड़ और पार्टियाँ, वे अनिवार्य माध्यम है जिनके ज़रिये ही भारत जैसे विशाल लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व की प्रणाली काम कर सकती हैं। यह नतीजा निकालना अनुचित नहीं होगा कि कई पार्टियाँ, उनके नेता और अन्य प्रतिनिधि केवल इसलिए बर्दाश्त किये जा रहे हैं कि लोक लोकतंत्र चाहता है ।"[2]

---

1. शंकरशेष - कोमल गांधार - पृ. सं.
2. अभय कुमार दुबे (सं) -लोकतंत्र के सात अध्याय, पृ. सं. 76

आज की सच्चाई यह है कि भारतीय नेतृत्व आज तक जनता की बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति करने में सफल नहीं हुआ है । आबादी के आधे से अधिक लोग आज भी गरीबी की रेखा के नीचे जी रहे हैं । भारत ने आज शिक्षा, प्रौद्योगिकी, कृषि और सुविधाओं के क्षेत्र में काफी प्रगति की है । लेकिन भारत की आर्थिक समस्याओं और गरीबी में कोई खास परिवर्तन नहीं आया है । इन समस्याओं के हल ढूँढ़ने में यह प्रगति कामयाब नहीं हुई है ।

शासक, शासितों एवं नेताओं को 'यमगाथा' में दूधनाथ सिंह ने चित्रांकित किया है । पुरुरवा इसमें जनता के लिए पूरी तरह लड़ता है । वसिष्ठ की भूमिका भी जनहित के रक्षार्थ है । वह इसमें जन-सामान्य के हितों के रक्षार्थ जनता के शोषण करनेवाले ऋषि कुलों के विरुद्ध जनता के साथ खडा हो जाता है । लेकिन इन्द्र की सत्ता उसे पूरी तरह तोडता है । याने आज का स्वार्थी सत्ताधारी वर्ग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए निरर्थक रक्तपात करने से भी हिचकता नहीं और अपने कुकृत्य में प्रशासनिक वर्ग को भी शामिल करता है - "लगातार वर्षों से आप एक दूसरी व्यवस्था के बारे में अपने विचार गणसभाओं, पुरों और जनपदों में व्यक्त कर रहे हैं । किसी भी दबाव में अपने को बदला नहीं । इसलिए आपको हठ, अनादर, तिरस्कार और देश निकाले योग्य समझा गया । आपको भागना पडा"।[1] सत्ताधारी वर्ग अपने को प्रतिकूल आती परिस्थितियों को किसी भी कीमत पर अपने अनुकूल कर देता है । अपनी तमाम शक्ति इकट्ठा कर जनता के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता है । मासूम जनता अपनी विवशतावश इसमें फँस जाता भी है । "यमगाथा" नाटक में शासक वर्ग का प्रतिनिधि इन्द्र का यह कथन यह साबित करता है- "ले जाओ इस महामुनी को । और वहीं डाल दो इसे, जहाँ यह अपने मन्त्रों के लिए प्रामाणिक अनुभव अर्जित कर सके । कहाँ है ऊर्वशी ? नृत्य और संगीत का प्रबन्ध करो । और बृहद सोमपान का । दुखी कर दिया इस कुतर्की ने । पूरा दिन और सारी सन्ध्या व्यर्थ गयी। हा हा मैं कहता हूँ मैं पुरन्दर हूँ । मैं 'वृत्तहन्ता' हूँ । मैं भी कुछ नहीं सोचूंगा । इस अखिल ब्रह्माण्ड में मेरे लिए हां हां मेरे लिए सोचने को है क्या ! मैं निर्बाध इच्छाओं का स्वामी हूँ ।

---

1. दृधनाथ सिंह - यमगाथा, पृ.सं. 11

मैं वही करूँगा जो मेरा मन होगा जो मेरी इच्छाओं में बाधा उत्पन्न करेगा उसे मैं नष्ट कर दूँगा। चाहे वे मेरे पिता ही क्यों न हो । मैं सारे ब्रह्माण्ड को खडंहर में बदल दूँगा । कोई भी मेरा उत्तराधिकारी नहीं हो सकता । मैं सर्वज्ञ हूँ, सर्वाधिकारी हूं, सनातन हूँ, अकेला हूँ ।"[1]

सत्ताधारी की इन दमन नीतियों ने मानवता को अनिश्चय की स्थिति में धकेल दिया है, उसे अपनी ज़िन्दगी से वंचित कर दिया है । अनैतिकता के मार्ग पर चलकर अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ती कर सत्ताधारियों ने अपना मार्ग बनाया है । धर्म को भी इसके मार्ग के रूप में चुना है । 'इला' में प्रभाकर श्रोत्रीय ने सत्ता के लिए मानवीयता की सभी सीमाओं का उल्लंघन करनेवाले मनु को दिखाया है । सत्ता को बनाये रखने केलिए वह अपनी इकलौती सन्तान इला को पुत्र में बदलवाकर मानवीय भावनाओं के साथ खिलवाड़ करता है । व्यक्ति के जीने के अधिकार को, उसके अस्तित्व को नकारनेवाली राजनीति आज जीवन के हर क्षेत्र में अपनी जड़े जमा चुकी हैं । नाटक में मनु और वशिष्ठ का संवाद देखिए -

"मनुः धर्म से मेरी राजनीतिक प्रतिष्ठा जुडी है।... और राजनीति का पहला मूल्य है अवसर को साधना !

वशिष्टः तुम कह रहे हो यह ? राजन, इतने अन्धे न बनो कि तुम्हारे नियम-विधान तुमको ही धिकारें !

मनुः मैं आचार-निर्माता और विचारक ही नहीं हूँ, मैं शासक हूँ । मुझे प्रजा का नियमन करने से पहले स्वयं को प्रतिष्ठित करना होगा । मेरी विफलता मुझे कहीं का नहीं रखेगी ।

वशिष्ठः (व्यंग्य से) तो, औरों की तरह तुम भी सबसे पहले ओर सबसे अन्त में शासक ही हो । स्वाभाविक या अस्वाभाविक किसी भी रीति से अपना महत्व बनाए रखना चाहते हो तुम भी?"[2]....

---

1. दृधनाथ सिंह - यमगाथा, पृ.सं. 23
2. प्रभाकर श्रोत्रीय, इला, पृ. सं. 25

मनु का अहंकार और जनहित के नाम पर उचित-अनुचित करना आदि दिशाहीन राजनीति का ही परिचय देते हैं । नाटक में इला को सुद्युम्न में तब्दील करानेवाला मनु सुद्युम्न को अंत तक दोहरी मानसिकता में जीने केलिए विवश करता है । जीवन पर्यान्त भुगत रहे यह द्वन्द्व सत्ताधारी के स्वार्थ या हठ के कारण सदियों से भुगत रही जनता को ही व्यांजित करता है । जनता का यह द्वन्द्व शाश्वत बन गया है । सत्ता के आतंक ने आम आदमी को निष्प्राण बना दिया है । इस सन्दर्भ में शोषण के प्रति जनता की जागरूकता ही एक मात्र निवारण मार्ग है। क्योंकि जहाँ नागरिक अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सजग होंगे वहाँ शोषण भी कम रहेगा। "नरसिंह कथा" के द्वारा लक्ष्मी नारायण लाल ने इस समस्या को उठाया है । क्योंकि इसमें हिरण्यकशिपु जैसे तानाशाही सत्ताधारी का जन्म लोगों की प्रतिक्रियाविहीनता एवं कमज़ोरियों से हुआ था । "राजनीति के इस दाँव-पेंच में पिसना, आम आदमी की नियति बन गई है । राजनीतिक हिंसा, दमन तथा अनाचार के सम्मुख वह आवाज उठाने की अपेक्षा मौन रहकर सहने में ही अपनी भलाई समझता है । शायद इस समर्पण के मूल में जन-समाज का सामूहिक रूप से संगठित होकर आवाज़ न उठाना हो । कुछ भी हो, किसी लोकतांत्रिक देश के लिए उस देश के नागरिकों की राजनीतिक उदासीनता बहुत बड़ा अभिशाप सिद्ध हो सकती है।"[1]

भ्रष्टाचार

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय प्रणाली में भ्रष्टाचार बडी सहजता से आ मिला। समाज के प्रत्येक हिस्सों में राजनीति का दखल भ्रष्टाचार के पनपने का मूलभूत कारण है । आज सब से अधिक भ्रष्टाचार की पकड़ प्रशासनिक व्यवस्था में है । भ्रष्टाचार आज प्रशासन का एक अंग बन चुका है । पहले भारत में भ्रष्टाचार की भूमि इतनी फली-फूली नहीं थी । विकास एवं आर्थिक ज़रूरतों की बढ़ोत्तरी ने भ्रष्टाचार के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान किया। आज भ्रष्टाचार के कई रूप हैं जैसे राजनीति के क्षेत्र में हो तो मौका-परस्ती, भाई-

---

1. डॉ. रमेश गौतम (सं) - नाट्य विमर्श, पृ. 269

भतीजावाद, भ्रष्ट नौकरशाही आदि । सामाजिक प्रणाली में भ्रष्टाचार आज एक अभिन्न अंग है । "स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की भारतीय प्रणाली को जिस अपेक्षाकृत सहजता से भ्रष्टाचार ने यथार्थ बंदी बनाया है उसको देखते हुए यह सहज संकेत मिलता है भारत में स्वभावतया भ्रष्टाचार की कभी भी स्वाभाविक रूप से निंदा नहीं की गई है ।"[1] भ्रष्टाचार के बहुआयामी रूप को परखने के बाद यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भ्रष्टाचार का मूल स्रोत राजनीति है । व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में भ्रष्टता फैलाने के लिए राजनीति हमेशा सक्रिय हैं । पूँजीपति हमेशा अपने व्यापारों के संचालन के लिए नौकरशाही को अपने वश में कर लेता है । इसके लिए साधारण लिपिक से लेकर ऊँचे पदों में आसीन अफसर तक के कर्मचारी ऐसे लोगों के संयुक्त हितों को पोषित करने में तैयार खडे हैं । अधिक धन कमाने की लालसा और काम न करने की इच्छा प्रशासकों को भ्रष्टता से भ्रष्टता की ओर ही धकेल रही है । प्रशासक रिश्वत लेकर प्रशासनिक गतिविधियों को सीधे ढ़ंग से होने में बाधा डालता है । इस प्रकार सरकारी गतिविधियों को अपने सुविधानुसार करके धन और यश कमाने के अनेक तरीके वे अपनाते हैं ।

कालाधन देश की भ्रष्ट स्थिति का अगला निशान है । आज की राजनीति में काले धन का उपयोग बढता ही जा रहा है । याने भारतीय राजनीति आज धनबल पर आश्रित है । आज कल के चुनावी खर्च में अनेक करोड़ रुपये लगते हैं । इस धन को इकट्टा करने केलिए अपराधी वर्ग और माफियाओं से मिलना राजनीति में एक स्वाभाविक घटना बन चुका है। 'नरसिंह कथा में विषकन्या का चित्रण इसी उद्देश्य को लेकर हुआ है । प्रह्लाद को मारने के लिए हिरण्यकशिपु विष कन्या को भेजते हैं । किसी भी तरह प्रह्लाद का अंत करना वे चाहते हैं । राजनर्तकी और हिरण्यकशिपु के संवाद का एक अंश इस भ्रष्टता पर प्रकाश डालता है -

> "हिरण्यः तुम नर्तकी के रूप में विषकन्या हो-इस समय को कोई और नहीं जानता। प्रह्लाद को खतम करने का काम तुम्हें सौपता हूँ ।

---

1. चंदन मित्रा - भ्रष्ट समाज, भ्रष्टाचार की संस्कृति, पृ. सं. 20

राज नर्तकी : जो आज्ञा महाराज !

हिरण्यः क्या कुछ सोच-विचार रही हो ?

राज नर्तकि : जानती हूँ महाराज । सोचना विचारना राजद्रोह है ।

हिरण्य : प्रकृति में जो कुछ भी मूल्यवान है, वह देश का है । देश का जो श्रेष्ठ है, वह राजा का है । और वह मैं हूँ ।

हिरण्यः जो काम तुम्हें सौंपा गया, वह जल्द से जल्द पूरा होना है । न पूरा होने की सजा तुम जानती हो ।

राज नर्तकी : पूरा होने का पुरस्कार भी जानती हूँ ।

हिरण्यः मुझसे कोई इस तरह की बात करने की हिम्मत नहीं कर सकता ।

राज नर्तकी : मैं राज्य की सम्पत्ति हूँ । विषकन्या बनाने में राज्य का समय और धन लगा है।

हिरण्य : बातें नहीं मुझे फल चाहिए ।

राज नर्तकीः जब विष -वृक्ष लग चुका है तो विषफल आयोगा महाराज ।"[1]

विषकन्या इसमें सामाजिक प्रगति में बाधा डालनेवाली समाजविरोधी ताकतों का प्रतीक है । भ्रष्टाचार के मामलों में सत्तारूढ़ वर्ग हमेशा कानून की निगरानी से बाहर रहते हैं। उनकी गैरकानूनी हरकतें कभी बाहर नहीं आतीं । कानून भी कमोबेश इन लोगों का साथ देता है । भारत की मिट्टी से आज भ्रष्टाचार को हटाना मुमकिन नहीं है। इसकी जड़ें बहुत गहरी फैली हुई हैं । 'नरसिंह कथा' में लाल की कोशिश भ्रष्टाचार को चित्रांकित करना भी रहा है ।

"हिरण्यः मेरे समस्त गुणों का आधार, मुझ पर मेरा अमिट अन्धविश्वास, मुझे कोई

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा, पृ. 48

मार नहीं सकता, न कोई मनुष्य न पशु न कोई अस्त्र, न कोई शस्त्र । ऐसा कोई समय नहीं, जगह नहीं, यहीं से मैं होता हूँ सर्वशक्तिमान। किन्तु प्रह्लाह पूछता कि यह शक्ति मुझे कहाँ से मिली ? मैं कहता-मैंने स्वयं अर्जित की । वह कहता ईश्वर से मुझे मिला । सारी शक्तियों का मूल स्रोत ईश्वर है। उसने मेरे लिये भी कथा गढ़ी है कि मैंने घनघोर तप किया, तब ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर मुझे अद्‌भुत वर दिए ।"[1]

भ्रष्टाचार को रोकने के लिए भारतीय संसद और न्यायपालिका पराजित हुई है । भ्रष्टाचार पर रोक डालने के लिए निर्धारित नीतियों का पालन यहाँ सीधे ढ़ंग से नहीं हो रहा है। इसके परिणामस्वरूप न्यायपालिका तक से लोगों का विश्वास उठ गया है । न्यायपालिका का संचालन अंतिम रूप से सत्ता के ही हाथों से होता है । हर सरकारी संस्थाओं का कार्यवाही सत्ता के ही हाथों से चलता है । यहाँ तक कि सत्ता ने जनता को अपने विचारों को अख्तियार करने का स्वातंत्र्य तक छीना है । भीष्म साहनी ने 'हानुश' में इस समस्या को उभारा है । भीष्म साहनी ने चेक्स्लोवाकिया के एक ऐतिहासिक मिथक का प्रयोग इसमें किया है । नाटक में हानुश को अपनी मेहनत से बनी घड़ी के कारण राजसत्ता द्वारा दण्ड मिलता है । घडी बनाने के बाद घडी पर उसका अधिकार नष्ट हो जाता है । उसे सम्मानित करने के बजाय उसकी आँखें निकालकर दण्डित किया जाता है । निर्मम सत्ता की इस पाशविक वृत्ति की तीखी प्रस्तुति नाटक में हुई है । सत्ता का प्रतीक महाराज कहता है "अगर हमारी राजधानी की रौनक बढ़ाने के लिए इस घड़ी को बनाया गया है तो फिर दूसरी घड़ी बनाने का मतलब ? यह आदमी सिर्फ एक ही घडी बनाएगा, और यही वह घडी होगी जिसे वह बना चुका है, इसे कोई भी और घड़ी बनाने की इजाज़त नहीं होगी आगर हमें पता चला कि यह कोई और घड़ी लुक-छिपकर बना रहा है तो इसे कड़ी सजा देंगे ... मगर इस आदमी का कोई एतबार नहीं है । सत्रह साल तक यह घडी बनाता रहा और हमें इसकी खबर तक नही हुई । चुपचाप इस घड़ी को नगरपालिका पर लगा

---

1. लक्ष्मी नारायण लाल - नरसिंह कथा, पृ. सं. 32

दिया गया हमें बाद में खबर दी गई । हमें उस वक्त बताया गया जब घड़ी लग चुकी थी । ऐसे आदमी पर कड़ी निगरानी रखने की ज़रूरत है ।"[1]

चेकोस्लोवाकियन मिथक प्रस्तुत करके भीष्म साहनी ने यह स्थापित किया है कि सत्ता का निर्मम शासन देश कालतीत है । भ्रष्टाचार की परंपरा बहुत पुरानी है । आज तक यह कई रूपों में समाज में सक्रिय है । "हानूश" में नगरपालिका के लोगों की मौका परस्ती में आज की दफ्तरशाही को देखा जा सकता है । अपने को लाभ मिलनेवाले किसी भी मौके का उपयोग वे लोग करते हैं । जार्ज, इसाक और जान का यह संवाद ऐसे मौकापरस्त लोगों की हरकत पर प्रकाश डालता है -

"जार्जः क्यों ? शहर का मरकज़ है । शहर का सारा कारोबार यहाँ होता है । दिसावर से सैकड़ों व्यापारी लोग आते हैं । यहाँ घड़ी लगने पर लोग दूर-दूर से उसे देखने आया करेंगे । यात्रियों का तांता लगा रहेगा । अभी से लोगों को पता चल गया है कि कोई घडी बनी है । किसी कुफलसाज़ ने घडी बनाई है ।.... मैं तुम्हे सच कहता हूँ, इस बात की बड़ी घूम मचेगी । यूरोप-भर से लोग इसे देखने आया करेंगे। हमारे व्यापार को चार चाँद लग जाएंगे । जैसे भी हो हमें घड़ी नगरपालिका पर ही लगवानी चाहिए । इसे किसी भी हालत में हाथ से नहीं निकलने देना चाहिए।

जान : सुना तो मैने भी है कि जगह-जगह से लोग पूछने आ रहे हैं । वेनिस से कोई हिसाबदान हानुश से मिलने आया है ।

हुसाक : हानुश की किस्मत जम गई है, कहाँ एक मामूली-सा कुफ्लसाज और कहाँ अब बहुत बडा ईजारकार बन गया है ।

---

1. भीष्म साहनी - हाश्शा - पृ. सं. 97

जार्जः दूकान के किराए बढ जायेंगे । यहाँ ज़मीन जायदाद की कीमत बढ जाएगी।

जानः तुम अभी से दो एक दूकानों और खरीद ले, जार्ज, यह वक्त अच्छा है ।"[1]

धर्म और राजनीति की गठजोड

भारतीय राजनीति की नस-नस में भ्रष्टाचार गहराई तक फैली है उसे अभिव्यक्त करानेवाला प्रमुख नाटक है "कबिरा खडा बाज़ार में" । इसमें कबीर से संबन्धित घटनाओं के माध्यम से समकालीन राजनीति का स्पष्ट चित्र उन्होंने खींचा है । किसी भी युग और समाज में कबीर जैसे समाज-सुधारवादी व्यक्तित्व प्रासंगिक है । धर्म के नाम पर हो रही भ्रष्टता को इस नाटक में दिखाया गया है । धर्म पाखण्डियों के विरुद्ध उनकी चेतना भडक उठी है । भीष्म साहनी ने कबीर के मिथक का प्रयोग इसलिए किया कि सत्ता में व्याप्त विकृतियों एवं रूढ़ियों का जीवंत चित्र हमारे सामने आये -"आज की आधुनिक परिस्थितियों में जबकि प्रजातंत्र स्थापित हुए भी पाँच दशक होते जा रहे है तब भी हम अपने आपको उन्हीं विषम परिस्थितियों एवं विसंगतियों से भरे परिवेश में पाते हैं, जो कबीर के युग में भी व्याप्त थी । कबीर ने अपने समय में व्याप्त विसंगतियों का ज़बरदस्त विरोध किया । इसलिए हम पाते हैं कि नाटक में रूढ़ियों का विरोध एक बेकार मान्यताओं के स्थान पर नये आदर्शों की स्थापना कबीर का मुख्य ध्येय था।"[2] धर्म और राजनीति की अवैध संबन्ध को बनाये रखने के लिए सत्ता की सक्रिय भागीदारी हमेशा से है । धर्म और राजनीति का गठजोड उनके राजनैतिक शक्तियों का मुख्य स्रोत है । कबिरा खडा बाज़ार में नीमा कहती है - "कुछ सोच-समझकर बात किया कर । यह काशी है बेटा, हिन्दुओं का तीर्थ है । और यहाँ का कोतवाल मुसलमान है । सभी कहते हैं बडा बेरहम आदमी है, ज़िन्दा दफना देता है। तू हर किसी से दुश्मनी मोल लेता फिरता है, बेटा, मेरा दिल बहुत डरता है।"[3]

---

1. भीष्म साहनी, हानुश, पृ. सं. 64-65
2. नीलम राठी-साठोत्तर नाटक, पृ. 293
3. भीष्म साहनी, कबिर सड़ा आज़ाद में, पृ. सं. 21

धर्म के नाम पर समाज को घूरे पर फेंकनेवाली राजनीति 'इला' में भी दृश्यमान है । इसमें प्रभाकर श्रोत्रीय ने स्थापित किया है कि धर्म और राजनीति का आपसी संबन्ध हमेशा अनर्थकारी है । इसमें मनु धर्म को पोषित करते हुए अपनी सत्ता को अटूट रखना चाहता है ।

> ''मनु: "जब धर्म से ही आस्था उठ गई तो मेरा रचा संविधान मेरी सत्ता कहाँ टिकेगी रेत के महल की तरह ढह जायेगी वह।"[1] इसका विरोध करते हुए वसिष्ठ कहता है -"लेकिन धर्म-साधना रेत के महल का आधार नहीं है, राजा ! वह नेगे सत्तामद की शोभायात्रा का रथ भी नहीं है, वह धर्म तुम्हारे लिए सीढ़ी है । केवल सीढ़ी है, तुम्हारे लिए मन, बुद्धि, प्रतिभा की समस्त साधनाएँ, जिन पर रखकर तुम अपनी सत्ता के शिखर पर चढ़ना चाहते हो। कर्मकांड को धर्म समझ रहे हो । माध्यम हैं वे, स्वयं धर्म नहीं हैं।"[2] राजनीतिज्ञ धर्म और राजनीति के अवैध संबन्धों के सूत्रधार पहले भी थे और आज भी हैं । 'नससिंह कथा' का "हिरण्यकशिपु अपने राज्य में बढ़ते असन्तोष को धर्म जैसे हथियार के द्वारा दबाता है । वह इसमें आर्यों -अनार्यों, म्लेच्छों, दैत्यवंश का आपसी झगड़ा कराके जनता को धार्मिक एवं जातीय विद्वेष की आग में धकेलता है । इसके लिए वह धर्माचार्य शुक्राचार्य को पहले ही खरीद लेता है ।

शिक्षा का क्षेत्र और भ्रष्टाचार

शिक्षा का क्षेत्र भी आज भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं है । शिक्षा को आज एक धन्धे के रूप में देखा जा रहा है । ऐसा करने से सामाजिक विकास में ही बाधा उत्पन्न होगी । शिक्षा के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का ह्रास चारों तरफ हम देख रहे हैं । लेकिन शिक्षा से ही एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना हम कर सकते हैं । क्योंकि "शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव शिशु

---

1. प्रभाकर श्रोत्रीय - इला पृ, सं. 22
2. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा, पृ. सं. 26

सब प्रकार से विकसित हो कर समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण करता है । शिक्षा के माध्यम से ही सहस्त्रों वर्षों से राष्ट्र द्वारा अर्जित अनुभव बालक को हस्तांतरित कर दिए जाते हैं । शिक्षा के माध्यम से ही वह अपनी राष्ट्रीय थाती एवं संस्कृति को ग्रहण करता है । शिक्षा के द्वारा उनका शारीरिक, नैतिक, अध्यात्मिक विकास होता है । शिक्षा के द्वारा उनके चरित्र का निर्माण होता है । उनका सामाजीकरण होता है और वह मनुष्य की संज्ञा पाने योग्य बनता है ।"[1] शिक्षा का क्षेत्र आज इन मान्यताओं की ओर मूँह मोडकर चल रहा है । शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय मिथकीय नाटक है । नाटक के पात्र अरविन्द में मिथक कालीन द्रोणाचार्य का आरोप करते हुए नाटककार ने आज के स्वार्थी शिक्षक वर्ग का पर्दाफाश किया है । शिक्षा जगत एवं शिक्षक वर्ग की त्रासद-स्थितियों को इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है। इसमें अरविन्द शिक्षा-जगत की भ्रष्ट राजनीति में फँसा हुआ है । भावी पीढी का निर्माण करनेवाले एक शिक्षक ने अपने स्वार्थ लाभों के लिए शिक्षा की नीतियों का गला घोंट दिया है। एक शिक्षक होते हुए भी नये प्रतिक्रिया विहीन बने प्रोफसर अरविन्द के कारण उसकी ही छात्रा अपमानित होती है और अंत में वह आत्महत्या भी कर लेती है । महाभारत के सन्दर्भ में द्रौपदी के वस्त्र हरण की घटना को नाटककार ने इस आधुनिक कालीन घटना के साथ मिलाकर प्रस्तुत किया है । अरविंद और विमलेन्दु की बातचीत में अरविन्द में निहित स्वार्थी शिक्षक को देखा जा सकता है -

"अरविन्दः मैं कौन हूँ ?

विमलेन्दु : तू द्रोणाचार्य है । व्यवस्था और सत्ता के कोड़ों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य-इतिहास की धार में लकड़ी की ठूठ की तरह बहता हुआ - सड़ा गला द्रोणाचार्य । व्यवस्था के लाइट हाउस से अपनी दिशा मांगने वाले टूटे जहाज-सजा द्रोणाचार्य ।

अरविंद : मैं द्रोणाचार्य नहीं, आरविन्द हूँ, प्रोफेसर अरविन्द ।

---

1. मनोहर पुरि, उषा पूरी - समकालीन भारत, 226

विमलेन्दु : बकवास, तू द्रोणाचार्य है । कौरवों की भाषा बोलने वाला, युद्ध में भी तू उनका साथ देने वाला । तू किस बात का प्रोफेसर है ? तू द्रोणाचार्य है ।

अरविन्द : नहीं.... नहीं

विमलेन्दु : हाँ, हाँ, तु द्रोणाचार्य है । एक और द्रोणाचार्य । एक और द्रोणाचार्य"।[1]

द्रोणाचार्य अपने शिष्यों को नैतिकता का पाठ पढाने में पराजित हुआ था । एक शिक्षक होने के नाते वह कर्ण को अपमानित होने से बचा सकता था । द्रौपदी को बचा सकता था । सत्ताधारियों से मिला हुआ शिक्षा-क्षेत्र आज कुछ लोगों तक ही सीमित है । अपने पदों में अत्यन्त प्रतिष्ठित होकर भी अन्याय का साथ देनेवाले ऐसे लोग आज समाज के नैतिक मूल्यों का ह्रास कर रहे हैं । इस नाटक के संबन्ध में डॉ. रमेश गौतम का यह विचार उल्लेखनीय है - "वस्तुतः एक पौराणिक मिथक का सहारा लेकर नाटककार ने आधुनिक बुद्धिजीवि वर्ग का पर्दाफाश किया है, जो सत्ता और व्यवस्था से जुड़कर अपने स्वार्थ साधते-साधते निरीह और विवश बन गया है । आधुनिक शिक्षक और बुद्धिजीवि वर्ग की इस स्वार्थी, सुविधावादी और अवसरवादी प्रवृत्ति को प्रोफेसर अरविन्द के चरित्र द्वारा नाटककार ने प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है ।"[2] सत्ता की क्रूर, कुटिल और शोषणकारी हरकतें समाज में भ्रष्टाचारों, अनाचारों एवं दुराचारों को बढावा दे रही हैं । आज की स्थिति में इसके शिकंजे से मुक्त होने का रास्ता भी बन्द हुआ है । क्योंकि किसी का भी लक्ष्य समाज कल्याण नहीं है। भ्रष्ट वातावरण बनाये रखने में ही राजनीतिक अपना भला समझते हैं ।

युद्ध की विभीषिका

मानवीय इतिहास जितना पुरातन है उतना पुरातन है युद्ध का भी इतिहास । युद्ध मानवीय जीवन की सबसे अभिशप्त त्रासदी है । पुरातन काल से लेकर किसी न किसी तरह

---

1. शंकर शेष - एक और द्रोणाचार्य, पृ. सं. 75
2. डॉ. रमेश गौतम -मिथकीय अवधारणा और यथार्थ, पृ. सं. 579

संसार में युद्ध की विभीषिका एवं युद्धविरोधी स्वर कायम है । निस्संदेह युद्ध एक बर्बर कृत्य है । संसार की कोई भी समस्या युद्ध के द्वारा हल नहीं हो सकती । "युद्ध के अर्थ होते हैं असफलता, निराशा, घृणा, दुख, मूल्यों का विघटन और अनेक आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक समस्याओं का जन्म । इसमें कोई संदेह नहीं कि युद्ध के मुकाबले शान्ति सदैव वरेण्य है । युद्ध मानवता के लिए अभिशाप है ।"[1] मानवीय सभ्यता के विकास के साथ युद्ध जन्य चिन्ताओं का भी विकास हुआ था । मानव की बुनियादी ज़रूरतों को जुटाने और अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के विचार से वह दूसरों से टकराने लगा । युद्ध का सूत्रपात वहीं से हुआ था । जब यह संघर्ष विराट रूप में होने लगा तब वह युद्ध में परिणित हो गया । पुरातन काल से लेकर अनेक युद्ध यहाँ हुए हैं। पुराणों में युद्ध का वर्णन अधिक मात्रा में देखा जा सकता है । महाभारत में युद्ध धर्म और अधर्म के बीच था । इसमें अधर्म के ऊपर धर्म की विजय होती है । और रामायण में युद्ध आर्यों और अनार्यों के बीच था । आधुनिक युग तक यह सिलसिला ज़ारी है । युद्ध जन्य वातावरण मानवता को सुख और शान्ति दिलाने में कामयाब नहीं होता हैं। क्योंकि युद्ध का वातावरण हिंसात्मक है ।

स्वार्थ सिद्धि को लेकर युद्ध का आरंभ होता है । मानव एक ऐसा प्राणी है जो एक से बढ़कर एक सुविधायें प्राप्त कराने की लालसा अपने में पालता है । अधिक प्राप्त करने की लालसा युद्ध करने के लिए उसे प्रेरित करता है । महाभारत युद्ध को इसके आलोक में देखा जा सकता है । दो परिवार के बीच का संघर्ष अंतिम रूप से युद्ध में परिणित हुआ था । लेकिन दोनों विभाग में याने कौरवों एवं पाण्डवों में अनेक लोग मारे गये थे । युद्ध का परिणाम केवल अवसाद और त्रासदी है । मानवीयता का नाश ही युद्ध में होता है । युद्ध हमेशा समाज के उच्च वर्ग शुरु करते हैं लेकिन परिणाम भोगती है आम जनता । राजनीति में युद्ध एक सशक्त हाथियार है । संसार का इतिहास इसको प्रमाणित करता है । सत्ताधारियों के स्वार्थ लाभ से युद्ध

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी -रचना के सरोकार, पृ. सं. 90

का प्रारंभ होता है । शासक वर्ग की साम्राज्य-लिप्सा संसार में अनेक युद्धों का कारण बना था। भारत दो विश्व महायुद्धों का साक्षी बना है । इसके दुष्परिणामों को भोगा भी है । एक तृतीय विश्वयुद्ध की संभावना भी बहुत दूर नहीं है । यह सत्य है कि युद्ध के द्वारा किसी भी समस्या का हल नहीं हो सकता लेकिन कभी-कभी युद्ध अनिवार्य भी बन जाता है । न्याय की स्थापना के लिए जो युद्ध लड़ा जाता है उसे कभी अमान्य नहीं कह सकते। लेकिन युद्ध तो सबसे अन्तिम विकल्प होना चाहिए । "जब अहंकार सामने खड़ा ललकार रहा है, अत्याचार अट्टहास कर रहा हो, मानवता कराह रही हो तो चुप रहना कायरता है । आत्मरक्षा भी एक बहुत बडा धर्म है । राम और रावण का युद्ध इसका उदाहरण है ... राम के सामने युद्ध के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं था । महाभारत के कृष्ण और युधिष्ठर के लिए भी युद्ध एक विकल्पहीन सत्य था । ऐसे युद्ध को गीता में धर्मयुद्ध कहा गया है ।"[1]

युद्ध की समस्या मानव की मूलभूत समस्याओं में एक है जो अनेक काल से होता आ रहा है । युद्ध के उपरान्त समाज अस्तव्यस्त हो जाता है । संपूर्ण मानवता इसकी त्रस्तता से विचलित हो जाती है । युद्ध का दुष्परिणाम पीढ़ियों तक चलता रहता है । हिरोषिमा और नागसाकी में हुए बम-विस्फोड का दुष्परिणाम आज तक वहाँ की जनता भुगत रही है। युद्ध का असर समाज के सभी क्षेत्रों में होता है । नैतिक मूल्यों का विस्थापन युद्ध द्वारा होता है । युद्ध से सबसे लाभ उठानेवाला क्षेत्र राजनीति का है । युद्ध छिडने का मूलभूत कारण लोगों की महत्वकांक्षा है । राजनीति में भी महत्वाकांक्षा को अधिक महत्व दिया गया है । राजनीति अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए युद्ध का सहारा लेता है । युद्ध देश की जनता को दिशाविहीन कर देता है । गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' युद्ध जन्य वातावरण को दृश्यगत करानेवाला एक सशक्त नाटक है । युद्ध का दुष्परिणाम हमेशा साधारण जनता को भोगना पडता है । नाटक में कुरुक्षेत्र युद्ध के सन्दर्भ में युद्ध जैसे भीषण यथार्थ को गिरिराज किशोर ने हमारे सामने रखा

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार - पृ.सं. 91

है । युद्ध तो बडे-बडे देशों के नेताओं की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए होता है । लेकिन इससे आम जनता को अधिक परेशानियाँ हो रही है । शासक तो इसपर कदापि चिन्तित नहीं है । धृतराष्ट्र के शब्दों में यह सत्य उजागर होता है -

"सिपाही तो क्षण-क्षण पर मरते हैं । उनके लिए युद्ध कभी बंद नहीं होता । युद्ध बंद हुआ है तो अवश्य कोई महारथी मरा होगा । हो सकता है भीष्म चाचा ने अपने प्रण का पालन कर डाला हो ।"[1]

आम जनता के लिए यह संसार आज सुरक्षित नहीं रहा है । उनके जीवन का मूल्य संरक्षित नहीं है । कभी भी वह आक्रमित हो सकता है । युद्ध क्रूरता है । उसे रोकना मानवता के जीवन की सुरक्षा के लिए आवश्यक है । मानव मन से ही सबसे पहले विद्रोह की भावना फूटती है । 'प्रजा ही रहने दो' में दुर्योधन के मन के विद्वेष ही युद्ध का कारण बना था । धृतराष्ट्र विदुर और सुयोधन से कहता है -

> धृतराष्ट्र : "विदुर, पहले जब सूर्य की किरणें मेरी पलकों पर पड़ती थी तो अपने इस अंधेपन में मुझे प्रकाश का स्पर्श अनुभव होता था । अब जैसा अंधकार वैसा प्रकाश ! जैसी रात वैसा दिन केवल वे ही ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं जो मेरे अंदर भय की तरह समाई हुई हैं। जब राजसभा में जुआ खेला गया था तब से अब तक कई प्रकार के चित्कार, ध्वनियां, शोर सुने हैं । मेरा अंतर किसी टूटे महल के गुबंद की तरह उन्हें निरंतर प्रतिध्वनित करता रहता है...। ओर इस युद्ध का भय... युद्ध को किसी प्रकार रोको।"
>
> सुयोधनः पिता जी, आप भयभीत न हों । हम युद्ध अच्छी तरह लड़ सकते हैं । केवल लड़ ही नहीं सकते उसे जीत भी सकते हैं ।

---

1. गिरिराज किशोर -प्रजा ही रहने तो, पृ. सं. 87

धृतराष्ट्रः सुयोधन, युद्ध की बात मेरी शांति भंग कर देती है । युद्ध मेंरे अंदर पारे की तरह हिलने लगता है।"[1]

धृतराष्ट्र के शब्दों में युद्ध की भीषणता स्पष्ट होती है । लेकिन धृतराष्ट्र के ऐसे भयभीत शब्दों को सुनकर दुर्योधन विचलित नहीं होता । वह अपनी प्रतिशोध एवं विरोध की अग्नि को तीव्र ही रखता है । दुर्योधन आगे कहता है -

"पाँच गाँव । इंद्रप्रस्थ देकर हमने क्या नहीं भोगा जो अब पांच गांव दिलाना चाहते हैं । युधिष्ठिर संत और सत्यवादी बने रहे, अपने भाई अर्जुन और मित्र कृष्ण की सहायता से पूरा खांडव वन फूंकवा डाला । नाग-वंशियों को घर से बेघर कर दिया । वे सब हमारे विरुद्ध हो गये । राजसूय यज्ञ करके हमारे अधीन राजाओं को भी अपने अधीन कर लिया । हम कुछ नहीं बोले । इन विस्तारवादी पांडवों को पांच गाँव दिलाकर हमें दर-दर का भिखारी बनाना चाहते है । अब फिर ऐसी कोई मूर्खता करने का हमारा कोई विचार नहीं है ।"[2]

महत्वाकांक्षी लोगों की कारवाई ही युद्ध में परिणत होती है । सुयोधन ऐसे महत्वाकांक्षी लोगों का पर्याय है जो जबरदस्ती से अपनी पूँजी का विस्तार करना चाहता है । दूसरा विकल्प न चुनकर युद्ध को ही ऐसे लोग अंतिम विकल्प चुनता है । उसका फल है विनाश और विध्वंस। 'कोमल गांधार' में शंकर शेष ने युद्ध की भीषणता को चित्रांकित किया है । इसमें भी महाभारत युद्ध को माध्यम बनाया गया है । संसार में जब भी युद्ध हुआ है वहाँ संपूर्ण मानवता प्रताडित हुई है । गाँधारी कहती है - "यानी युद्ध नहीं रुकेगा ? आप भी उत्सुक नहीं इस युद्ध को रोकने केलिए । शकुनि उल्टे युद्ध को बढ़ावा दे रहा है । सर्वनाश होगा, महाराज. मैं देख रही हूँ युद्ध की विभीषिका को... नरसंहार को.... हज़ारों सड़ती हुई लाशों के बीच अपने बच्चों की लाशों

---

1. गिरिराज किशोर, प्रजा ही रहने तो, पृ. सं. 66
2. वही . पृ.सं. 66-67

को ... मुझे किस अपराध का दंड मिलनी जा रहा है महाराज!.... इतने बच्चों की मां .... माँ नि-संतान हो जाऊँगी क्या ...."[1]

आज विश्व के लगभग सभी राष्ट्र परमाणु शक्ति संपन्न है । यह आज की दुनिया के लिए खतरनाक स्थापित हो रहा है । इसके विनाशकारी रूप को देखते हुए भी कोई भी पीछे हटना नहीं चाहते । एक या दो स्वार्थी महत्वाकांक्षी व्यक्ति के मन में युद्ध का प्रथम अंकुरण होता है। फिर यह सामाजिक धरातल पर आ जाता है । आम जनता कभी युद्ध होना नहीं चाहते क्योंकि उनमें कोई स्वार्थ मोह या महत्वाकांक्षा नहीं है । अमेरिका और इराक के बीच का युद्ध इस महत्वाकांक्षा के कारण ही हुआ था । संपन्न वर्ग नहीं चाहते अपने ऊपर कोई संपन्न हो। इसलिए ऐसे राष्ट्रों के ऊपर युद्ध की नीति चलायी जाती है । लेकिन युद्ध कोई शाश्वत समाधान नहीं देता । सत्ता और शक्ति हासिल करने की भागदौड में इस सत्य को कोई स्वीकार नहीं करता। किसी-न-किसी तरह वह युद्ध करना चाहता है । आज के माहौल में विश्व की कई जगहों से युद्ध का स्वर सुनायी देता है । रोर्जमरा की ज़िन्दगी में युद्ध एक आम खबर बन चुकी है । युद्ध की समस्या आज मानवीय सभ्यता के अस्तित्व का प्रश्न है । युद्ध के बाद जो ह्रासोन्मुख संस्कृति समाज में पनपती है उसका असर पीढ़ियों तक बना रहता है । युद्ध का यथार्थ आज मानवीय सभ्यता के भविष्य का यथार्थ बन गया है ।

निष्कर्ष

समकालीन नाटककारों ने वर्तमान राजनैतिक यथार्थ को उजागर करने केलिए ऐतिहासिक एवं पौराणिक मिथकों को आधार बनाकर कई नाटकों की रचना की है । समकालीन दौर में लिखे गये अधिकांश नाटकों ने सत्ता के क्रूर कुटिल और शोषणकारी यथार्थ को हमारे सम्मुख रखा है । इसके द्वारा यह सत्य जाहिर हुआ है कि समकालीन जीवन की

---

1. गिरिराज किशोर, प्रजा ही रहने तो, पृ. सं. 69

विसंगत परिस्थितियों का मुख्य कारण राजनीति है । जीवन के हर क्षेत्र में राजनीति का दखल है । राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति का धिनौना खेल ज़ारी है । इन नाटकों में केवल समस्याओं का चित्रण न होकर जनता को सोचने केलिए विवश भी कर दिया गया है । मिथकों द्वारा जनता तक पहुँचना आसान है । इसलिए इन नाटककारों ने अतीत को नई अर्थसंवेदनाएँ देकर प्रस्तुत किया है। समकालीन राजनैतिक परिस्थितियों पर सीधे आक्रमण करनेवाले नाटकों में लक्ष्मीनारायम लाल का 'नरसिंह कथा', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', दया प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की, प्रभाकर श्रोत्रीय का 'इला', दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' शंकर शेष का 'कोमल गांधार' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी नाटकों में अमानवीय राजनीति करनेवालों का पर्दाफाश किया गया है । भारतीय राजनीति में हुए अनेक सन्दर्भों एवं घटनाओं की इन नाटकों में जीवन्त अभिव्यक्ति हुई है । आपातकालीन समय से लेकर आज की स्वेच्छाचारी और अत्याचारी शासन व्यवस्था का खुला चित्र इन नाटकों में देखा जा सकता है। पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर नई अर्थ व्यंजनाओं को तलाशने का प्रयास किया गया है। आम आदमी की यंत्रणाओं की अभिव्यक्ति करने में ये सभी नाटक सफल सिद्ध हुए हैं ।

❖ ❖ ❖

पांचवाँ अध्याय

समकालीन मिथकीय नाटकः सांस्कृतिक सन्दर्भ

प्रस्तावना

संस्कृति मानव के विकासमय स्वरूप का जीवन्त उदाहरण है । यह वह शक्ति है जो पूरे समाज और जीवन को उसकी संपूर्णता का अनुभव कराती है । इसमें अन्धकार से प्रकाश की ओर, अविवेक से विवेक की ओर, अपूर्णता से संपूर्णता की ओर मानवीय चेतना को अग्रसरित कराने की शक्ति है । इस शक्ति के मूलाधार हैं, भाषा, कला, दर्शन, प्रौद्योगिकी, शिक्षा आदि । समाज में यह शक्ति परिष्करण का कार्य करके संस्कृति का निर्माण करती है । संस्कृति में मानव के भूत और वर्तमान समाए हुए हैं । संस्कृति तो समग्रता का वाहक है, इसके कई रूप और विचार हैं -"संस्कृति की दो प्रकार की व्याख्याएँ संभव हैं व्यापक और सीमित । मानवविज्ञान सीखे हुए व्यवहार - प्रकारों की समग्रता को संस्कृति की संज्ञा देता है । इसकी परिधि में मानव और प्रकृति, मानव और समाज, मानव और अदृश्य जगत् की शक्तियों के सभी अंतर्संबंध आते हैं । मानव का अंतर्जगत, विचार, विवेक, व्यक्तिगत मूल्य, ऊर्जा की अभिव्यक्ति भी संस्कृति का अंग होता है । सुविधा केलिए संस्कृति को अवयवों और पक्षों में विभाजित किया जा सकता है, पर उसके घटक एक-दूसरे से सावयवी रूप से जुड़े होते हैं ।"[1] मनुष्य को मनुष्य केलिए एवं समाज केलिए रहने का भाव संस्कृति के मूल उद्देश्यों में एक है। संस्कृति के संरक्षण केलिए मानव ने इसके अनेक उपादानों का भी विकास किया है । साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, कानून, सदाचार आदि सभी इसके तहत आते हैं । भाषा एवं शिक्षा का भी संस्कृति में अपना अलग महत्व हैं क्योंकि भाषा एवं शिक्षा दोनों मानव को संस्कार युक्त बनाने केलिए अपनी अहम भूमिका निभाते हैं । ऐसे संस्कार युक्त मानव सांस्कृतिक मूल्यों को बनाये रखने में हमेशा सजग एवं सक्रिय है ।

आदिम युग से ही मनुष्य ने अपने उत्थान की दृढ़भूमि स्थापित करने केलिए सांस्कृतिक मूल्यों की खोज की है । आदिम मानव द्वारा भौतिक समृद्धि प्राप्त करने के दौरान अपने आन्तरिक चेतना को भी दीप्त कराने केलिए सौन्दर्यात्मक चेतना अपनायी । पर्व, त्योहार

---

1. श्यामाचरण दुबे - परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति पृ. सं. 79

आदि का नियोजन इस उद्देश्य की पूर्ती केलिए होता था । इन सबों ने मानव जीवन को जीवन्तता भी प्रदान किया- "जिन तत्वों से मानव अपना मानसिक और शारिरिक परिष्कार करता है और परिष्कार के उपरान्त अपनी उज्ज्वल वृत्तियों से समाजोन्नयन तथा राष्ट्रोत्थान करता है, वह संस्कृति है।"[1]

संस्कृति शब्द का अर्थ प. रामचन्द्र वर्मा कृत संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधार, मानसिक विकास, सजावट, सभ्यता आदि अर्थ बताए गये हैं । इन अर्थों एवं परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि संस्कृति मनुष्य का परिष्कार ही नहीं करती बलिक उसका नियामक एवं विधायक भी है । विश्व की सभी संस्कृतियों के मूल में मानव की समग्र जीवन शैली व्याप्त है । संस्कृति व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की अन्तःसत्ता को ऊर्जवान और प्रबल बनाती है । ऐसा ऊर्जवान व्यक्ति या समाज समस्त मानव के प्रति सम्मान एवं आदर का भाव और बन्धुभाव प्रकट करता है । संस्कृति के उदात्त गुण मानव को विश्व मानव बनाते हैं और एक विश्व संस्कृति का भाव भी उत्पन्न कर देते हैं- "संस्कृति व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सम्बन्धों को उदार और मधुर बनाती है, भौतिक प्रतिबद्धताओं से मुक्त करके दिव्य तत्व से परिचित कराती है । कला और सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट करती है, साथ ही मानव व्यक्तित्व में कर्तव्यपरायणता, अनुशासन, साहस, उत्तम, स्वस्थ, मानसिक और आध्यात्मिक विकास केलिए उपादेय मनोरंजन और मानवीय गरिमा से अकम्पनिष्टा का समावेश कराती है ।"[2] मानव की सत्वृत्तियों का कारण उसका सांस्कृतिक बोध है । प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति युक्त आत्मीयता का भाव जाति, धर्म, वर्ण आदि संकीर्णताओं के परे जिस व्यक्ति ने अपना संस्कार का निर्माण किया है वही व्यक्ति संस्कारयुक्त कहने योग्य है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि संस्कृति एक व्यापक प्रत्यय है जो जीवन को समझने की दृष्टि और उसे जीने योग्य बना देने की पद्धति का नाम है ।

---

1. डॉ. रामसजन पाण्डेय- संस्कृति का स्वरूप पृ. सं. 1
2. रतनकुमार पाण्डेय - साहित्य, सोन्दर्य और संस्कृति - पृ. सं. 27

संस्कृतियाँ हमेशा मानव की पूरी जीवन पद्धति से जुडी हुई हैं और एक राज्य की बनावट के पीछे उसकी संस्कृति की ही अधिक प्रधानता है । भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से संपन्न रही है । भारत में अनेक प्रकार की विचारधाराएँ रही हैं, संप्रदाय रहे हैं, धर्म रहे हैं, दर्शन रहे हैं लेकिन अपनी तमाम असमानताओं के बीच वे एक बात में समान हैं कि इसमें मानव धर्म को सबसे अधिक महत्व दिया गया है । सच तो यह है कि मानव धर्म का मूल उद्देश्य लोक मंगल ही है ।

समन्वय की भावना को भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । संकुचित विचारधाराएँ भारत ने कभी स्वीकार नहीं किया है । यहाँ एक समन्वयात्मक सामासिक संस्कृति पनपी है जिससे हमेशा अनेकता को आत्मसात करके त्याग और ग्रहण का सिलसिला चलता रहता है। इन सब के कारण एक सह अस्तित्व का भाव यहाँ बरकरार रहा ।

भारतीय दृष्टि हमेशा आत्मवादी रही है । संसार के समस्त प्रणियों एवं पदार्थों में एक ही जीवनधारा एवं चैतन्य को प्रवाहित देखना इसकी चरम उपलब्धि है । अद्वैत दर्शन में यह दृष्टिकोण हम देख सकते हैं । "अद्वैत का दर्शन भारतीय चिन्तन के चरम विकास का उदाहरण है । यह सम्पूर्ण जीवन और पदार्थ जगत को एक और, अभिन्न माननेवाला दर्शन है । 'आत्मवत सर्वभूतेषु' का मंत्र और अहिंसा, करुणा, प्रेम, त्याग आदि गुण इसी आत्मवादी अद्वैतवादी चिन्तन के परिणाम है ।"[1] पश्चिम की तरह भारतीय संस्कृति आसाक्ति को प्रश्रय नहीं देती । अनेक विसंगतियों से गुज़रते हुए भी उससे उत्तरजीवि होकर भारत ने अपनी आन्तरिक चेतना को सुरक्षित रखने की कोशिश की है ।

आधुनिक युग में प्रवेश करने के बाद भारत भौतिकता की ओर उन्मुख होने लगा । लेकिन संस्कृति में अंतर्लीन तत्व किसी न किसी तरह आज भी सुरक्षित है । यूनान, मिश्र जैसी

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी- रचना के सरोकार, पृ. सं. 222

महान सभ्यताओं को वहाँ के निवासी भूल चुके हैं । भारत को अनेक ऐतिहासिक प्रहरों का सामना करना पडा था लेकिन इसके बावजूद भी हमारे संस्कृति चिह्न जीवित रहते हैं तो यह भारतीय संस्कृति की शक्ति एवं संपन्नता ही है ।

भारत का समकालीन सांस्कृतिक परिवेश

अंग्रेज़ी शासन भारत की आत्मा को क्षति पहुँचाने में बहुत कामयाब हुआ । उन्होंने धर्म की पाखण्डता को भारतीयता के विरुद्ध प्रयोग किया । उन्होंने भारत को हिन्दु, मुसलमाल, सिख आदि खण्डित अवस्था में देखने पर ज़ोर दिया । इस अवस्था में एक सांस्कृतिक परंपरा के उत्तराधिकारी के पथ से भारतवासी विस्थापित हो गये । स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान इन खोये हुए मूल्यों को पुनःस्थापित करने में भारतवासी संग्राम की भूमि पर उतर पडे । जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता की माँग की गयी । इस ज़माने में हम अपने अस्तित्व और भविष्य के बारे में पूरी तरह सजग हुए । लेकिन हमारे भीतर की चिंगारियाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बुझ गयीं और फिर कभी इसे जलाने की कोशिश भी नहीं हुई । आज ये प्रतिगामी शक्तियाँ नये कलेवर में हमारे सामने प्रस्तुत हो रही हैं, इनका लक्ष्य हमारी संस्कृति है, हमारी प्रकृति, हमारी चिन्ताएँ हमारे संसाधन, हमारी संपत्ति आदि सबकुछ है ।

विकास योजनाएँ यहाँ जोरों पर हैं । औद्योगिकरण चारों तरफ हो रहा है सत्ता के शिखरस्त लोग यह दावा करते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बासठ वर्ष बीतने पर हमने खूब विकास प्राप्त किया । बदलती आर्थिक व्यवस्थाएँ सामाजिक व्यवस्थाओं को भी बदल रही हैं। बीसवीं सदी के आरंभ में भारत में क्रम और चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण समृद्धि पायी जाती थी । महात्माओं और महारथों ने हमारी संस्कृति की पहचान बनाई थी । लेकिन आज हमारी व्यवस्था फूहड अश्लील और नकली हो गई है । जाने-अनजाने हम अपनी संस्कृति को सूख

जाने दे रहे हैं । आज जातिवाद, आतंकवाद, कुर्सीवाद, प्रांतीयता, भाषावाद, अवसरवाद आदि संकीर्ण एवं संकुचित मनोभावों की पक्षधरता का बोलबाला है । जिन तत्वों से हम ने अपने मूल्यों को बनाए रखा, वे आज सांस्कृतिक विकलांगता में परिणत हो रहे हैं ।

लोगों का नज़रिया अब समाज और राष्ट्र के हित के विरुद्ध है । धर्म की संकल्पना को जो महनीय स्थान प्राप्त था उसका आधुनिक रूप है सांप्रदायिकता, जो अभी भारत का सबसे दर्दनाक अभिशाप है । बाज़ार और इलक्ट्रोनिक मीडिया ने हमारे समाज एवं संस्कृति को स्थगित कर दिया है । जीवन का तालमेल आज बाज़ार से नियंत्रित है । देश की बदलती हुई स्थितियाँ सामाजिक संबन्धों में बदलाव ला रही है । इसके फलस्वरूप जीवन के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण की स्थापना हुई है जो जीवन मूल्यों के समक्ष गंभीर चुनौती बनकर खडा है । बाज़ारीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति एक अदृश्य नाग की तरह हमारे आमने-सामने ही विष फैलाकर गुज़र रही है । भौतिकवादी व्यवस्था में सबकुछ लाभ केन्द्रित होता है । सत्ता भी इसमें शमिल है कि बाहर की संस्कृति हमारे ऊपर थोपी जा रही है । हर क्षेत्र में उलट-फेर ही हो रही है । चाहे वह कृषि के क्षेत्र में हो, ग्रामीण एवं नगरीय सभ्यता में हो, शिक्षा के क्षेत्र में हो, विज्ञान के क्षेत्र में हो या मानव के निजी जीवन में हो । पुराने ढ़ंग की खेती किसानों का महत्व घटा रही है । औद्योगीकरण कृषि के क्षेत्र में भी तेजी से बढ़ रहा है । ग्रामीण संस्कृति नागरीय संस्कृति की ओर जा रही है । हमारे रहन-सहन, आचार-व्यवहार के द्वार अब बाज़ार केन्द्रित समाज में खुलते हैं । ऐसी संस्कृति में हम पूरी तरह फँस चुके हैं । लेकिन हम उससे बचना नहीं चाहते क्योंकि वह हमारी शर्तें बन गयी हैं, जीने की ।

सांस्कृतिक संकट

देश की इन संकटपूर्ण स्थितियों के प्रति सजग नाटककारों में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल

का विशेष स्थान है । उन्होंने 'नरसिंह कथा' में इस अपसंस्कृति की ओर इशारा किया है । हमारी संस्कृति में आज हिरण्यकशिपुओं का राज है । आज के सन्दर्भ में यह हिरण्यकशिपु हमारी व्यवस्था है जो हुताशन, प्रह्लाद आदि को मिटाने में तुले हैं ।

"जयः हाँ, वो रहता हमारी इच्छाओं में । साकार होता हमारी कल्पनाओं में । उसका झूठ हमारा सत्य ।

विजयः उसने हमारी धार्मिक भावनाओं का राजनीतीकरण किया । हमारी जडता अर्थहीनता को रूकने के लिये नये से कर्मकाण्ड शुरु किया ।

जयः हमें झूठे विचार दिये । पडोसी हमारा शत्रु है । देश की अखण्डता संकट में है।"[1]

इसमें हुताशन और प्रहलाद सकारात्मक मानवीय मूल्यों एवं क्रांति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो समाजविरोधी ताकतों के विरुद्ध लड़ते रहते हैं । डॉ. नरनारायण राय के अनुसार "हिरण्यकशिपु एक व्यक्ति नहीं वह एक भाव है, एक प्रतीक है मूल्यहीन शक्ति का । प्रहलाद भी एक व्यक्ति नहीं है, एक भाव है एक प्रतीक है, समन्वित मूल्य चेतना की शक्ति का।"[2]

आज की भ्रष्ट व्यवस्था का चक्रव्यूह हमारी चारों ओर रचा गया है । इसके फलस्वरूप सांस्कृतिक संकट उपस्थित होता है । इस बात को मिस्टर अभिमन्यु में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने पूरी तरह उभारने की कोशिश की है । इसमें महाभारतकालीन अभिमन्यु न होकर आधुनिक कालीन अभिमन्यु की अभिव्यक्ति नाटककार ने की है जिसे केवल चक्रव्यूह तोडने का भ्रम मात्र है । क्योंकि व्यवस्था का धार हर एक इनसान में दृढ़ कर दिया गया है, जिससे बाहर निकलना व्यर्थ है । हमारे अपने घुटनें टेक कराने केलिए चारों ओर से कोशिशें हो रही हैं। ऐसे लोग चक्रव्यूह रचकर हमें फँसाने केलिए सक्रिय हैं । हमारी लापरवाही पैर के नीचे की ज़मीन को हमसे छीन रही है, फिर भी हम चुप हैं । नाटक में इस प्रतिक्रियाविहीन

---

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल -नरसिंह कथा, पृ.सं. 14-15
2. डॉ. नरनारयण राय, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल -व्यक्तित्व और कृतित्व पृ. सं. 89

जनता को हम देख सकते हैं ।

"राजन : चुप रह बेशर्म ।

राजन : लोग यही कहेंगे तुझे !

राजन : तेरी जबान खींच लूँगा !

राजन : तू आगे कुछ नहीं बोल सकेगा !

राजन : तू यहाँ से चले जा ।

राजन : तुम्हीं तो कुछ ढूँढ़ रहे थे । इसमें.... इसमें.... इसमें.... इसमें..

राजन : तेरी यह हिम्मत... बत्तमीस !

राजन : खुद हारकर फिर अपने एक -एक अंग से लड़ने का नाटक । आत्मन से तेरा कोई संबंध नहीं । वह तुझसे तभी छूट गया, जब तू यहां घुसा । उसके बाद ही मैं जन्मा हूँ । आत्मन, गयादत्त राजन केजरीवाल... सबसे अपने चारों ओर नकली लडाई का एक चक्रव्यूह...

राजन : मैं दिन-रात लडता रहा ।

राजन : वही हारी हुई लडाई ।"[1]

अनिश्चयात्मकता में घूम रहे मानव के खण्डित व्यक्तित्व राजन में दिखाने की कोशिश नाटककार ने की है जो भीतर और बाहर अंतर्द्वन्द्व से पीडित है । यह अपसंस्कृति मनुष्य के दिमाग तक को चूस लिया है ।

जिन उपादानों से संस्कृति समृद्ध होती है उसमें शिक्षा और भाषा का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है । शिक्षा के केन्द्र आज लाभ केन्द्रित संस्थाएँ हैं । आज शिक्षा-संस्थाएँ इस धन्धे

---

1. लक्ष्मीनारायणलाल - मिस्टर अभिमन्यु, पृ. सं. 36

में पूरी तरह सक्रिय हैं । एक ज़माना था जब शिक्षा का संचालन और उसे सलाह देने का कार्य देश के बुद्धिजीवि करते थे । लेकिन अब स्थिति इस प्रकार है कि शिक्षण संस्थाओं का संचालन व्यापारी करते हैं । सरकार भी इस धन्धे में शामिल है जिसका संस्कृति के उद्धार से कोई वास्ता नहीं है । शिक्षा आज संपूर्ण रूप से मुनाफे को लक्ष्य करके किये जानेवाला व्यापार है । शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य' में शैक्षिक क्षेत्र के खोखलेपन का तीखा चित्रण किया गया है । शिक्षा के क्षेत्र की घृणित राजनीति भी इसमें दिखायी गयी है । आज सत्य और न्याय जैसे मूल्य खारिज किये जा रहे हैं । ऐसी अवस्था में शिक्षा के मूल्यों का घट जाना स्वाभाविक है । आज उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच की आर्थिक रेखा में ज़मीन-आसमान का फर्क है । शिक्षा के निजीकरण के कारण आम आदमी केलिए उच्च शिक्षा निषिद्ध है । मनुष्य को संस्कार संपन्न करनेवाले मानविक विषयों की अहमियत नष्ट हो रही है । जिनके पास धन है वे ही इस ज़माने में जीने योग्य है और यहाँ एकलव्यों की अंगूठा कटते ही जायेंगे ताकि वे हमेशा अन्याय के आगे चुप रहे और आगे न बढ़े

"द्रोणाचार्यः एकलव्य का अंगूठा बने रहने का अर्थ समझते हो ? धनुर्विद्या पर उसका अधिकार हो जाएगा । शक्तिशाली होने के बाद ये क्षत्रीय से स्पर्धा करेंगे और परिणाम होगा-वर्णाश्रम धर्म पर संकट । उसका अंगूठा छीनकर मैं इन संभावनाओं को हमेशा केलिए समाप्त कर दूँगा । समझे ?"[1]

वैश्वीकरण और बाज़ारीकरण का लक्ष्य समाज के सभी क्षेत्रों को निजी शक्तियों के अन्तर्गत संचालित करना है । शैक्षिक क्षेत्र को भी इसके अंतर्गत लाना एक गंभीर सांस्कृतिक संकट है क्योंकि अपनी बृहत्तर प्रयोजनों में शिक्षा को कभी व्यवसाय के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता । क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य की शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास होता है । शिक्षा के द्वारा उनके चरित्र का निर्माण होता है । उनका सामाजीकरण होता है और वह मनुष्य की संज्ञा पाने योग्य बनता है ।

---

1. शंकर शेष - एक और द्रोणाचार्य, पृ. सं. 36

मानविक विषयों के अंतर्गत की शिक्षा पद्धति पूँजीपतियों को कभी लाभ नहीं दे सकती तो उनके लिए वही पद्धति श्रेयस्कर है जो बाज़ार की दृष्टि से श्रेयस्कर है । प्रजातान्त्रिक मूल्यों से विद्यार्थियों को दूर रखने के पीछे भी यही साजिश है ताकि बच्चे मुनाफे बढाने वाली शिक्षा अर्जित करे और हमेशा प्रतिक्रियाविहीन बने रहे । उसका दूर व्यापक परिणाम यह निकलता है कि समाज प्रतिक्रियाविहीनों या हुक्म बजानेवालों का मेला बना रहेगा ।

मध्यवर्गीय जीवन के सांस्कृतिक यथार्थ को भी शंकर शेष ने "एक और द्रोणाचार्य में अंकित करने की कोशिश की है । इस उपभोक्तावादी व्यवस्था में दम तोडनेवाले मध्यवर्गीय आदमी का प्रतिनिधि है अरविन्द । अरविन्द इसमें ऐसा एक पात्र है जो अन्याय के आगे अपनी आँखें बन्द कर देता है । सुविधामोह के कारण व्यवस्था के आगे अपने को बेच देता है । लेकिन उसमें एक मध्यवर्गीय जीवन जीनेवाले आदमी की विवशता भी दिखाई देती है । विमलेन्दु और अरविन्द का वार्तालाप देखिए -

"विमलेन्दुः साले मीडिल क्लास के आदमी ! अपनी हर समस्या को ग्लोरिफाई करोगे।... और नासमझ! मेरी बीवी साल-भर से नौकरी की तलाश में दर-दर भटक रही है। सब आश्वासन देते है, नौकरी कोई नहीं देता । सब बकवास है !

अरविन्द : तुम कहना क्या चाहते हो ?

विमलेन्दुः वही जो तुम्हारा भीतरी मन सुनना चाहता है ।

अरविंद : यानी ?

विमलेन्दु : जाओ, उस प्रेसिडेंट से समझौता करो, प्रिंसिपल बनो । क्या तुम्हारी भी ख्वाहिश है कि तुम्हारी लाश के पास म्युनिसिपैलिटी के चैयरमैन की अध्यक्षता में शोक सभा हो और प्रस्ताव पास किया जाए ?"[1]

---

1. शेकर शेष - एक और द्रोणाचार्य, पृ. सं. 26

आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का व्यंग्यपूर्ण चित्रण करने में यह नाटक पूरी तरह सफल हुआ है -"बिंब-प्रतिबिंब भाव से घटित होने और समानान्तर दृश्य-विधान के कारण अरविन्द व्यवस्था और सुविधा के हाथों, बिका हुआ द्रोणाचार्य साबित होता है । और इस प्रकार व्यवस्था के हाथों बिके हुए द्रोणाचार्य की परंपरा ढ़ोने का अभिशाप आधुनिक समाज-व्यवस्था पर एक व्यंग्य बन जाता है और यही नाटककार का मूल कथ्य भी है । द्रोणाचार्य की कथा-योजना नाटक के इसी मूल कथ्य को दृश्यत्व प्रदान करने केलिए की गयी है ।"[1]

हमारी भाषा, प्रकृति, हमारे चिन्तन इन सभी में इस वर्तमान अपसंस्कृति के खतरे हैं। हमारी भाषा अब हमारी नहीं रह गयी है । कई प्रांतीय भारतीय भाषाएँ अब अपना दम तोड़ चुकी हैं । अब पूरे समाज में अंग्रेज़ी भाषा का ही वर्चस्व है । हमारी परंपरा रही है कि जो भी तत्व हमारी संस्कृति में आ मिलता है उसे हम पूरी तरह स्वीकार करते हैं और प्रयोग में लाते भी हैं । लेकिन अंग्रेज़ी के प्रति अंधे हो जाने का परिणाम गहरा और दूरगामी होगा। पूँजीपतियों केलिए अंग्रेज़ी भाषा एवं अंग्रेज़ियत बने रहना आवश्यक है । इसलिए हमारी भाषा आज दोयम दर्जे का बन गयी है । हमारी प्रकृति को भी इस नज़रिये से लूट रहे हैं । लेकिन दूसरी बात यह भी है कि प्रकृति के विरुद्ध जाना सदैव विसंगतियों को जन्म देना है । प्रकृति के ताल-मेल को भंग करने से मनुष्य का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है । क्योंकि प्रकृति ही जीवन का विधायक एवं नियामक है । प्रभाकर श्रोत्रिय के 'इला' में प्रकृति से संबन्धित इस समस्या की झलक मिलती है । 'इला' का मूल कथानक श्रीमदभागवत में वर्णित सुद्युम्न की कथा और बुध के जन्म की कथा पर आधारित है । इसमें 'इला' को 'सुद्युम्न' बनाकर प्रकृति से चुनैती की जाती है । मनु और वशिष्ठ के संवादों से प्रकृति संबन्धी मूलभूत समस्या उजागर होती है -

---

1. डॉ. प्रकाश जाधव - रंग धर्मी नाटककार शंकर शेष, पृ. सं. 80

"वशिष्ठ : प्रकृति महाशक्ति है । वह साधना का सम्मान करती है । संसार के कल्याण केलिए अपने अजाने रहस्य तक खोल देती है । परंतु विनाश और विकृति वह सहन नहीं कर सकती ।

मनु : साधना के सामने क्या प्रकृति को सिर झुकाते नहीं देखा है ? नहीं देखा है क्या बंजर धरती में लहलहाता खेत ?

वशिष्ठ : अपनी छाती फाड़ने वाले को अन्त देना उसकी कृपा है या पराजय ? उसकी प्रतिहिंसा नहीं देखी है तुमने अभी ?"[1]

अंत में 'इला' को 'सुद्युम्न' बनाने केलिए वशिष्ठ को राज़ी होना पड़ता है । क्योंकि उन्होंने ही पुत्रकामेष्ठि द्वारा इला का जन्म संभव कराया था । अंत तक वशिष्ठ प्रकृति को ही मानता है और कहता है "जैसे अवसर मिलते ही पाती अपनी सतह पा लेता है, वैसे ही प्रकृति अपने नियम लागू करने में बडी निर्मम होती है।"[2] प्रकृति को लूटकर ही मानव आज प्रगति और विकास की ओर बढ़ रहे हैं । धरती से पानी की अंतिम बूँद तक चूस-चूस कर निकाल लिया जा रहा है । आम आदमी को नरक यातना में धकेल कर और प्रकृति को लूटकर पूँजीपति वर्ग अपनी पूँजी का विस्तार कर रहे हैं । भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि का महत्व घट रहा है । समाज को सुविधा संपन्न बनाने के नाम पर पूजीपति वर्ग मानवराशि के अस्तित्व के ऊपर कुठराघात कर रहे हैं । आम आदमी हर युग की तरह आज भी विसंगतियों एवं तनावों से ग्रस्त जीवन बीता रहे हैं । समाज आज घोर सांस्कृतिक संकट से गुज़र रहा है। ऐसी अवस्था में साहित्य ही एक मात्र माध्यम है जो मानव को अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने में सहायक सिद्ध होता है । "साहित्य संस्कृति का सजग प्रहरी और संरक्षक है। संस्कृति जिन संस्कार मूल्यों द्वारा समृद्ध और समुन्नत होती है, साहित्य उन्हीं को प्रतिष्ठित करने केलिए व्यावहारिक उपक्रम करता है । शताब्धियों तक चलने वाली मानव की अविराम साधना

---

1. प्रभाकर श्रोत्रिय - इला, पृ. सं. 24
2. वही, पृ. सं. 25

के फलस्वरूप जीवन के जिन उदात्त आदर्शों को प्रतिष्ठित किया गया उसी को संस्कृति की संज्ञा प्रदान की गई है । संस्कृति, भूत, वर्तमान और भविष्य को अपने में समेटे सदानीर नदी की भाँति, पीढ़ियों को अपने जीवनरस से सींचती हुई निरन्तर प्रवहमान रहती है। संस्कृति की मूल्यवान संचित उपलब्धियों की रक्षा और प्रयास के लिए साहित्य एवं अन्य कला माध्यमों की सृष्टि होती है ।"[1]

साहित्य तत्कालीन युग की सांस्कृतिक चेतना को आत्मसात करता है । साहित्य संपूर्ण मानवीय संस्कृति की वाणी है । इसलिए रचना कर्म हमेशा सांस्कृतिक कर्म ही है । मानव के सारे विचार और अनुभव साहित्य में हमेशा सुरक्षित हैं । जब तक मनुष्य इस संसार में जीवित है तब तक संसार में साहित्य का भी वर्चस्व है और उसकी बहुआयामी संभावनाएँ भी रहेंगी । साहित्य मनुष्य को जीने की प्रेरणा एवं अपने अस्तित्व का बोध भी कराता है । "मानव-मस्तिष्क को उद्वेलित करने की तथा मानव-संवेदना को विस्तृत करने की जितनी सामर्थ्य साहित्य में होती है, उतनी ज्ञान के अन्य किसी विषय में नहीं होती क्योंकि साहित्य में व्याप्त सत्य ऐतिहासिक या भौतिक सत्य से परे जाकर मानव मन के सत्य को अभिव्यक्त करता है"[2] । समाज पर साहित्य का प्रभाव बहुत तीखा है, कभी-कभी साहित्य एक हथियार का रूप भी ले लेता है लेकिन इसकी भाषा कभी विद्रोह और आतंक नहीं है बल्कि सार्थक शब्दों द्वारा समाज को बिगड़ने से रोकता है । समस्या विहीन समाज ही साहित्य का चरम लक्ष्य है। यदि कोई साहित्य विद्रोह और हिंसात्मक शब्द बोलता है और कभी मनोरंजन तक ही सीमित रहता है तो ऐसे साहित्य को साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

समयुगीन समाज को गतिशीलता और जीवंतता प्रदान करना साहित्य के माध्यम से एक सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य होना चाहिए । यह सही है कि साहित्य के माध्यम से पूरी

---

1. डॉ. रत्नकुमार पाण्डेय - साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति - पृ. सं. 7
2. मोहन राकेश - संस्कृति और साहित्य - पृ. स. 12

सामाजिक व्यवस्था को बदल नहीं सकते लेकिन, अगर कोई रचना पढ़नेवाले को सोचने केलिए विवश करती है तो वही उस साहित्यकृति की विजय है ।

मनुष्य केलिए जो हितकारी है और उसके संस्कार युक्त चित्त को उद्दीप्त करता है, उस तत्व को साहित्य आत्मसात कर लेता है । साहित्य मानव जीवन को संस्कार संपन्न बनाता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि मनुष्य अपने जीवन के प्रति संवेदनशील बना रहता है। केवल तर्कशक्ति से जीवन के प्रति तटस्थ दृष्टि नहीं रख सकते बुद्धि के स्तर पर ही यह सीमित रहेगी । मन एवं मस्तिष्क को एक सात ऊर्जवान बनाने की शक्ति साहित्य में होती है । जीवन मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों से साहित्य हमेशा जुडा रहता है -"असल बात यही है कि वही कृति श्रेष्ठ है जो हमें बेहत्तर मनुष्य बनाने का संकल्प देती है और हमें मनुष्य भाव से रागदीप्त कर हमें मानवीय मूल्यबोध के प्रति सजग करती है ।"[1]

साहित्य में हमेशा प्रामाणिक अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है । साहित्य हमेशा युगप्रभावी सिद्ध हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है । जहाँ- जहाँ अन्याय अनाचार और अनैतिकताएँ हुई हैं वहाँ साहित्य ने अपनी प्रतिक्रिय व्यक्त की है । संस्कृति और साहित्य के गठजोड का यही सशक्त प्रमाण है । समाज के रहन-सहन, आचार-विचार, राजनीति, शिक्षा, मानवीय संबंन्धों, प्रकृति-पर्यावरण सब कुछ एक सुस्त संस्कृति को बनाये रखने का माध्यम है । साहित्य की दृष्टि इन्हीं तत्वों से गुज़र कर, विचार-विमर्श कर अपना रूप गढ़ लेता है ।

सर्जनात्मक चेतना

एक साहित्य-रचना को रचनाकार की निजी संपत्ति नहीं कह सकते । उसमें रचनाकार की व्यक्तित्व चेतना और सामाजिक चेतना संयुक्त होकर सार्वजनिक हो जाती है । एक रचना

---

1. मोहन राकेश - संस्कृति और साहित्य - पृ. स. 16

अगर सार्वकालिकता और सार्वदेशीयता को नज़र में रखकर लिखा जाए तो उसमें श्रेष्ठता आ जाती है । इसकेलिए रचनाकार को अपने अनुभव एवं विचारों के प्रति सतर्क रहना चाहिए । साहित्य की कोई भौगोलिक सीमाएँ नहीं हैं । रचनाकार अपने अनुभव, चिन्ता और दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति एक सामाजिक सत्य के रूप में प्रस्तुत करके, एक रचनाकार होने के नाते समाज के प्रति अपना दायित्व निभा लेता है । रचनाकार के पास हमेशा भाषा की अनियन्त्रित संभावनाएँ हैं उसे वह सही मायने में प्रस्तुत करे तो व्यवस्था की विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से टकरा सकते हैं -"इस समय तक के साहित्य को किसी एक रचनाकार के नाम से नहीं जोडा जा सकता था । निःसंदेह हर लोकगीत अपने आरंभिक रूप में किसी एक व्यक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहा होगा, किन्तु अपनी स्वीकृति और विस्तार में दोनों 'लोक' अथवा 'जन' की संपत्ति बन गये और लोक-चेतना ने उनमें परिष्कार, परिवर्तन और परिवर्धन किये"।[1] एक सशक्त भाषा का आधार हासिल होने के कारण समाज में उसका एक हैसियत हमेशा बनी रहती है । लेकिन इसकेलिए अपनी सर्जनात्मक चेतना को गहरा और तीखा बनाना ज़रूरी है । संवेदनशील एवं ध्येयधर्मी साहित्यकार अपनी पैनी दृष्टि द्वारा, चारों ओर की सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन कर साहित्य द्वारा विचार-विमर्श करते हैं । विश्व के साहित्य में ऐसे कई रचनाकार हुए हैं जैसे, - शैक्सपियर, माक्सिम गोर्की, टोलस्टाई, दांते आदि । भारतीय इतिहास के अनेक महान साहित्यकार हैं जैसे, वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, टैगोर से लेकर प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध जैसे कई रचनाकारों ने ऐसा फर्ज निभाया है । इन सभी साहित्यकारों ने संस्कृति द्वारा परिभाषित मानव-जीवन के उद्देश्य तथा उनकी उपलब्धि की व्यक्तिगत और सामूहिक साधना को साहित्य में व्यक्त किया- " मैं स्वीकार करता हूँ कि किसी देश या समाज में ऐसी परिस्थिति आ सकती है जबकि लेखक केलिए मोर्चे पर जाना अनिवार्य हो जाए या उसे मानवघातक शक्तियों से मोर्चा लेना पडे । लेकिन मेरा यह विश्वास है कि विकट

---

1. श्यामाचरण दुबे - परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति, पृ. सं. 152

से विकट परिस्थिति में भी साहित्य-सर्जन ही उसका पहला धर्म है और साहित्य-रचना ऐसे समय में दूसरे दर्जे का कार्य नहीं । साहित्यकार तो शायद प्रशिक्षण प्राप्त कर दूसरे वर्गों का कार्य कर लेगा लेकिन कोई दूसरा व्यक्ति साहित्यकार का कार्य साहित्य-सृजन-प्रशिक्षण के बाद भी नहीं कर सकता ।"[1] साहित्य का लक्ष्य कभी एक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं होता उसमें प्रत्येक श्रेणी के वर्ग और उसके जीवन विषय का रूप ले लेने की क्षमता है । विशेषकार सभी साहित्यकार का एक मुख्य विषय है सर्वहारा वर्ग । भारतीय समाज में आधे से अधिक लोग इस श्रेणी में आते हैं । भारत के इस आधे से अधिक लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीनेवाले हैं । उन्हें अभी तक मनुष्य की बुनियादी ज़रूरतें नसीब नहीं है या इसकेलिए उसे कडी मेहनत करनी पडती है । सर्वहारा वर्ग की बुनियादी समस्याओं को लेकर सबसे पहले कार्ल मार्क्स ही चिन्तन के मुख्य धारा में आ गये । उन्होंने कहा कि पीड़ित और शोषित वर्ग ही किसी समाज की मूल समस्या है । इस महान चिन्तक से कई साहित्यकार प्रभावित हुए और इस बुनियादी समस्या को लेकर कई रचनाएँ रची गयीं । प्रेमचन्द जैसे महान साहित्यकार की रचनाओं में इस शोषित और पीडित वर्ग ही अधिक चित्रित किये गये । सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट होने से बचाने का कडा परिश्रम साहित्यकार की ओर से होता है । संस्कृति को बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य साहित्य में होता है । दोनों का लक्ष्य मानव जीवन की सार्थकता है । संस्कृति के सजग प्रहरी के रूप में रचनाकार को आँका जा सकता है । इन सब के बावजूद इतिहास एवं वर्तमान में अनेक क्षण ऐसे हुए हैं जहाँ सर्जनात्मक चेतना कुण्डित भी हुई है । क्योंकि जनवादी साहित्य सत्ता के समीकरण को बदलने का आग्रह करता है । कोई रचना अगर व्यवस्था को चुनौती देते हुए लिखी जाती है तो उसे कई रूढ़ और संकीर्ण ताकतों से लोहा लेना पडता है जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक जडता के पोषक है । देवेन्द्र इस्सर का मंतव्य है - "कभी-कभी साहित्यकार के जीवन में ऐसा क्षण भी आता है जब अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदार रहने केलिए उसे

---

1. देवेन्द्र इस्सर - साहित्य और स्वतन्त्रता : प्रश्न–प्रतिप्रश्न, पृ. सं. 58

स्वतन्त्रता या मृत्यु में से किसी एक का चयन करना पडता है । यदि उसके चिन्तन और सृजन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो वह हर्षपूर्वक मृत्यु को स्वीकार कर लेता है । क्योंकि एक ईमानदार साहित्यकार और सृजनात्मक प्रतिभा होने के नाते उसे स्वतन्त्रता के बिना मृत जीवन की सी यातना सहन करनी पड़ती है । स्वतन्त्रता के बिना उसकी शक्ति कभी क्रियाशील नहीं हो सकती । इसी कारण स्वतन्त्रता या मृत्यु के अतिरिक्त उसके लिए तीसरी कोई राह नहीं । स्वतन्त्रहीन जीवन, मृत्यु के समान है ।"[1]

सर्जनात्मक चेतना या सर्जनात्मक प्रक्रिया के मूल में समाज के किसी असंतोष, अंतर्विरोध या अभाव होता है । साहित्यकार उस समस्या के विचार विमर्श हेतु सृजन करते हैं और उसकी व्याख्या और विकल्प को तलाशना उसकी मज़बूरी हो जाती है । कभी वह परंपरागत मान्यताओं को नकार कर नये लक्ष्यों और मार्गों की ओर बढ़ता है । इस सन्दर्भ में देवेन्द्र इस्सर का यह मंतव्य ध्यान देने योग्य है -"रचनाकार का स्वर चाहे असहमति का हो या अलगाव का, असंतोष का हो या विद्रोह का, किंतु उसका स्रोत अभाव से जुडे हुए तनाव में होता है । रचना का संतोष, थोडे अंशों में ही सही, इस तनाव को दूर करने में सहायक होता है । स्थितियाँ और अनुभव रचनाकार में स्वयं की एक परिकल्पना विकसित कर देते हैं उसकी अनुभूतियाँ और प्रतिक्रियाएँ इसी परिकल्पना से प्रेरित होती हैं । सृजन उसके लिए आत्म-घोष और आत्म-साक्षात्कार का साधन बन जाता है।"[2] कई साहित्यकार ऐसे हैं जो अपने अन्दर की प्रेरणा से लिखते हैं । अपनी आत्मा की तृप्ति केलिए लिखते हैं और गौरव करते हैं कि उन्होंने समाज केलिए कुछ अच्छे विचार दिये । न वे श्रेय चाहते हैं न कोई पुरस्कार । लेकिन इसके विपरीत ऐसे भी कई लोग रचनारत हैं जो पैसे और यश केलिए लिखते हैं । पाठकों और आलोचकों की प्रतिक्रिया साहित्य को हमेशा जीवंत रखते हैं । इन प्रतिक्रियाओं में असहमति के स्वर कभी-कभी तीव्र होते हैं तो साहित्यकार की सर्जनात्मक चेतना पर चोट पड़ती है ।

---

1. देवेन्द्र इस्सर, साहित्य और स्वातन्त्र्य, पृ. सं. 1
2. वही पृ. सं. 12

सर्जनात्मक प्रतिभा को अवरुद्ध करने में सत्ता का हाथ प्रखर है । सर्जनात्मकता की टकराहट जब सत्ता से होती है तो अपना, सृजनात्मक अस्तित्व संकट में पड़ जाता है । 'आठवाँ सर्ग' में सुरेन्द्र वर्मा ने साहित्यकार के इस अस्तित्व संकट को मार्मिक रूप से चित्रित किया है । इस में रचनाकार की कुंठित चेतना को कालिदास के माध्यम से उभारा गया है । इस कुंठा के कारण परिस्थितियों और सत्ता के दबावों में आकर कुमारसंभव को आठवें सर्ग पर अधूरा छोडने की घोषण करते हैं - "कुमारसंभव को अधूरा छोड दूँगा, आठवें सर्ग पर.... आगे नहीं लिखूंगा । समझूंगा कि कुमार का जन्म संभव नहीं हुआ, गर्भ में ही उसकी हत्या हो गई ।... तारक जीवित है, तो रहे । मुझे क्या ।"[1] "इसी कुंठा के कारण तीन वर्ष पहले हुए अपने अपमान का बदला लेने के लिए शासन द्वारा आयोजित अपने अभिनंदन समारोह का बहिष्कार कालिदास द्वारा होता है।"[2] भीष्म साहनी का 'हानुश' भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय नाटक है । भारतीय इतिहास में ऐसे कई मोड़ आए हैं जहाँ साहित्यकार को कई प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ा है । आज के सन्दर्भ में भी साहित्य में सत्ता का हस्तक्षेप प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में निरंतर होता रहता है । बंग्लादेशी लेखिका तस्लीमा तसरीन का उदाहरण हमारे सामने है । धर्म-पाखण्डियों का खुलासा अपनी रचना द्वारा करने के कारण उसे फाँसी की सजा सुनायी गयी थी । अपने देश से पलायन कर उसने आज तक अपने अस्तित्व को बनाये रखा है ।

राज्याश्रय की समस्या

सत्ता और साहित्य की आपसी गठजोड और विरोध हर युग की समस्या रही है । राज्य सत्ता का प्रथम कर्तव्य है जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना और मानवाधिकारों के संरक्षक बनना । लेकिन सत्ता जब जनांकाक्षा के विरुद्ध बर्ताव करती है तब वहाँ अराजकता पैदा हो जाती है । ऐसे वक्त में लेखक जनता के साथ जुड़ जाता है । सत्ता हमेशा विरोधों को

---

1. सुरेन्द्र वर्मा- आठवाँ सर्ग, पृ. 58
2. वही . पृ. सं. 72

दबाती है चाहे वह जनता के विरोध हो या लेखक के । भारत में आपातकाल के समय में यही हुआ था । उस समय भारत में अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता पर भारी नियन्त्रण रखा गया था । लेखक हमेशा मूल्यों के संरक्षक होते हैं और वैचारिक स्वतंत्रता के पक्षपाती भी ।

आज सामाजिक माहौल ऐसा है कि साहित्यकार को सत्ता के विविध रूपों से टकराना पडता है । जब सत्ता अपने विरोधियों को दबाना चाहती है तब अनुकूल और प्रतिकूल रूप में उन्हें अपने वश में कर लेती है । लेखक की रचनात्मकता पर रोक डालकर उनकी स्वतंत्रता उन से छीन ली जाती है या पुरुस्कारों और अन्य सुविधाओं से उन्हें पथ भ्रष्ट कर लिया जाता है । कभी-कभी उनमें से कोई विवशतावश और कभी-कभी उनसे प्रभावित होकर सत्ता के साथ मिलते हैं ।

आज जीवन के हर क्षेत्र में जो अन्तर्विरोध चल रहा है, उसमें समकालीन समाज पूरी तरह दमित हो रहा है । भारतीय समाज आत्मसंघर्षों से अपना जीवन व्यतीत कर रहा है । ऐसी अवस्था में लेखकों का रचना-दायित्व दुगुना होता है । लेकिन अपने इस दायित्व को निभाने केलिए रचनाकार को भी संघर्ष करना पड रहा है । समाज में अपने विचारों एवं रचना दायित्व को बनाये रखने केलिए कभी पूंजिपतियों से कभी सत्ता के हस्तक्षेप से उसे जूझना पड़ता है । समाज तक अपने विचारों को पहूँचाने केलिए उन्हें अनेक प्रतिबन्धों से गुज़रना पड़ता है। अभिव्यक्ति के साधनों में संचार-माध्यमों की भी अपनी विशिष्ट भूमिका है । लेकिन रेड़ियो, टेलिविज़न, समाचार पत्र आदि का संचालन आज सत्ता द्वारा होता है या पूँजीपतियों के नियन्त्रण में होता है । इन माध्यमों में मनोरंजन के विविध रूप संप्रेषित होते रहते हैं ताकि सोचने और विचारने की क्षमता लोगों से नष्ट हो जाए । प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में शासन भी इसमें शामिल है ।

शासन द्वारा लेखकों के उद्धार केलिए कई साहित्य अकादमियों की स्थापना की गयी है । लेकिन वहाँ योग्य लेखकों की गणना नहीं होती और योग्य लेखक हाशिये पर धकेल दिया जाता है । सुरेन्द्र वर्मा ने 'आठाँ सर्ग' में साहित्य और संस्कृति से संबन्धित इस बुनियादी समस्या का चित्रांकन किया है । साहित्यकार हमेशा समाज का चितेरा होता है । 'आठाँ सर्ग' में कालिदास के ऐतिहासिक मिथक में आधुनिक साहित्यकार और उसके लेखन स्वातंत्र्य पर सत्ता द्वारा अंकुश लगाने के प्रश्न को उठाया गया है । सुरेन्द्र वर्मा ने समकालीन समाज की सांस्कृतिक शून्यता एवं राजनैतिक दबावों की प्रखर अभिव्यक्ति इस नाटक में की है । लेखक राज्याश्रय में अपने रचनादायित्व से वंचित होता हुआ दिखाई देता है । कालिदास द्वारा नाटककार ने इस समस्या को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित किया है । "जिस प्रकार 'आषाढ का एक दिन' में कालिदास को उसकी रचना-भूमि से उखाडकर राज्याश्रय में ले जाया जाता है, जिसके कारण वह धार्मिक रूढ़िग्रस्तता और राजनैतिक दबावों से ग्रस्त है, वही स्थिति 'आठवां सर्ग' के कालिदास की भी है और यही हालत आज के रचनाकार की भी है । उसे भी राज्याश्रय और अभिव्यक्ति-स्वतन्त्रता का सामना करना पड़ रहा है । कालिदास द्वारा सत्ता की तुलना में साहित्यकार के स्वतन्त्र अस्तित्व और लेखकीय स्वतन्त्रता की घोषणा आधुनिक संन्दर्भों में विशेष महत्वपूर्ण है"[1]। नाटक का कथ्य है कि उसकी रचना कुमार संभव के 'आठवे सर्ग' में शिव-पार्वती के प्रेम-प्रसंग का वर्णन करने के कारण कलिदास पर अश्लीलता का आरोप पड़ता है । कालिदास को राज्य के उच्च अधिकारियों द्वारा चेतावनी दी जाती है और इस को काव्य से कटवाने केलिए कहा भी जाता है । सत्ता की नीतियों से जब साहित्यकार टकराते हैं तब उनके साथ यही होता है । कलिदास की स्वतंत्रता पर रोक डालता है और वह पूरी तरह टूट जाता है । नाटक में धर्माध्यक्ष कहता है -"यह सर्ग अत्यन्त अश्लील है । जगतपिता महादेव और जगतजननी पार्वती के भोग-विलास का ऐसा उद्दाम, ऐसा स्वछन्द, ऐसा

---

1. डॉ. शेखर शर्मा, समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक, पृ.सं. 256

नग्न चित्रण ।... इसका रचयिता पापी है । इसके श्रोता पापी है । .... ऐसे अधर्मी और अनाचारी कवि के सम्मान में समारोह में जो भाग ले, वह पापी है ।... यह सर्ग अत्यन्त मर्यादहीन है ।.... यह सर्ग बहुत अश्लील है । 'कुमारसम्भव' पर प्रतिबन्ध लगाया जाए, क्योंकि कच्चे मस्तिष्कों पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा।"[1]

सत्ता के हस्ताक्षेप के कारण कालिदास को अपना काव्य अधूरा छोडना पड़ता है । राज्य में सत्ता साहित्य के विरुद्ध कोई निर्णय लेती है तो उसे राज्य से भागना पडता है या सत्ता से समझौता करके अपनी लेखनी छोडनी पडती है ।

भीष्म साहनी ने 'हानुश' में भी इसी समस्या का चित्रांकन किया है । भीष्म साहनी आत्मबोध और लेखक के सामाजिक दायित्व से युक्त संवेदनशील साहित्यकार हैं । भीष्म साहनी का यह पहला महत्वपूर्ण नाटक है ।

कलाकार की सृजनेच्छा और प्रतिबद्धता को पूरी संवेदनशीलता के साथ इसमें उभारा गया है । 'हानुश' में एक कलाकार की निरीहता, विवशता एवं विडंबना देखी जा सकती है। व्यवस्था की कूटनीति से दबे साहित्यकार उसकी सृजन धर्मिता से वंचित हो जाता है । आर्थिक परिस्थितियों के कारण उसे राज्याश्रय में रहना पडता है । घडीसाज हानुश अपने वर्षों के परिश्रम बाद एक घडी बनाता है । इस घटी के प्रति अधिकार स्थापित कर शासन उसे दण्डित करता है ताकि वह अपनी सृजनात्मकता को बनाये न रखे । उसकी आँखें निकालकर उसका अमानवीय दमन करता है । आज के सन्दर्भ में मूल्यों को बनाये रखने केलिए अनेक समाज विरोधी तत्वों से संघर्ष करना पडता है । नाटक का यह संवादांश दृष्टव्य है -

"कात्या : चाल रही हो या नहीं रही हो । हम गरीब लोग बादशाह से टक्कर नहीं ले सकते है । हमारी बिसात ही क्या है ?

---

1. सुरेन्द्र वर्मा - आठवाँ सर्ग, पृ. सं. 38-39

ऐमिल : बादशाह सलामत ने नगरपालिका की माँग भी मंजूर कर ली और छत्ता भी बना दिया, उधर हानुश को अन्धा बनाकर गिरजेवालों को भी खुश कर दिया ।

कात्या : मैं हमेशा कहती रही, देखो हानुश, अपनी चादर देखकर पैर फैलाओ । नहीं तो बड़े लोगों की लड़ाई में तुम कुचल जाओगे ।

ऐमिल : वह न भी पड़ता तो भी कुचल जाता ।

कात्या : क्यों कुचल जाता ? क्या तुम कुचले गए हो ? क्या बूढा लोहार कुचल गया है ? क्या हानुश का बडा भाई कुचल गया है ?

ऐमिल : या तो तुम कहो कात्या, कि हानुश घडी ही नहीं बनाता । घड़ी बनाने का काम हाथ में ही नहीं लेता । कुफ्लसाज़ था, कुफ्लसाज़ ही बना रहता ! लेकिन जो लोग कोई नया काम करेंगे, उन्हें तरह-तरह की जोखिमें तो उठानी ही पड़ेगी । हानुश को अन्धा ही इसलिए किया गया कि महाराज, सौदागरों और गिरजेवालों के बीच अपनी ताकत को बनाए रखे ।"[1]

हर युग में और हर व्यवस्था में साहित्य को दबाने की कोशिश होती है । सत्ता अपने विविध रूपों द्वारा लेखक के सामने एक चुनौती बनकर खड़ा हो जाता है । एक तरह की अमानवीयता का खतरा साहित्य के ऊपर हर युग में होता है ।

आदमी को वस्तु में बदलनेवाली आज की भोग-संस्कृति में कला और साहित्य को भी ऐसे संकीर्ण और रूढ़ ताकतों का सामना करना पड़ रहा है । आज समाज बेखबर और असावधान बनता जा रहा है । भारत की परिस्थिति में रूढ़ियों एवं आर्थिक असमानताओं के बारे में लम्बे अर्से से साहित्यकार लिख रहे हैं । लेकिन आज भी परिवर्तन एक बड़ी समस्या

---

1. भीष्म साहनी - हानुश, पृ. सं. 101-102

है । सृजन क्षेत्र के अंतर्गत होनेवाली अपसंस्कृति मौकापरस्ती है । साहित्य क्षेत्र के अंतर्गत भी ऐसे घिनौनी राजनीति बहुत चल रही है । ऐसे साहित्यकार एक न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था केलिए अपनी कलम द्वारा लड़ने के बजाय पुरस्कारों के पीछे भागते रहते हैं । वे समाज के हितकारी कोई सन्देश अपनी रचना द्वारा नहीं पाते और आस्वादकों को केवल भ्रमात्मक लोग में भटकाते हैं-"ऐसे भी लेखकों के उदाहरण है जिन्होंने मनुष्य विरोधी हरकतें की हैं । एज़रा पाउण्ड जैसे कवि ने कभी रोम रेडियो से यहूदियों के विरुद्ध प्रचार किया था । ऐसे लेखक आज भी हैं जो हिटलर के कार्यों का समर्थन करते हैं, पाठक को कल्पनालोक में भटकाते हैं, अतीत के रुमानी संसार और भविष्य की युटोपिया में फँसाते हैं सेक्स का नशा पिलाते हैं, मगर ऐसे लेखक अपने लेखकीय और मानवीय दायित्व को स्वीकार नहीं करते ।"[1] 'आठवाँ सर्ग' में सुरेन्द्र वर्मा ने इस समस्या का उल्लेख किया है । नाटक का सौमित्र का कथन देखिए :

"मुझे भी यह बात खटकी थी, इसलिए थोडी सी छानबीन कर ली है ।..... शायद आप जानती हो, राजधानी में रचनाकारों का एक वर्ग ऐसा भी है, जिसे कालिदास की दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती प्रतिष्ठा बहुत कष्ट दे रही है । यह उनकी कूटनीतिक चाल थी और इसमें प्रमुख हाथ दिङ्नाग का रहा है ।"[2]

आज की स्थिति में लेखकों का सक्रिय बना रहना एक आवश्यकता है क्योंकि साहित्य हमेशा व्यवस्था की विद्रूपताओं से टकराया है । क्योंकि लेखक के रचना दायित्व में उसकी सामाजिक दायित्व ही दृष्टिगोचर होती है । वह अपनी और चारों ओर की ज़िन्दगी से हमेशा प्रतिबद्ध है । लेकिन लेखकों का व्यवसायोन्मुखी होना और कच्ची लेखनी करना समाज में सांस्कृतिक ज़ड़ता को बढावा देगा । आज़ादी से पहले राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाते हुए अंग्रेज़ी साम्राज्य व्यवस्था से टकराने का साहस उस समय के लेखकों ने

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार - पृ. सं. 31
2. सुरेन्द्र वर्मा - आठवाँ सर्ग, पृ. 40-41

किया । इसकेलिए उन्हें कई तरह की यातनाएँ झेलनी पडीं । लेकिन आज के बुद्धिजीवि के एक हाथ में झूठे विद्रोह हैं और दूसरे हाथ में व्यवस्था द्वारा दी गयी सुविधाएँ ।

आर्थिक विपन्नता भी रचनाकारों की एक बुनियादी समस्या है । जीने के संघर्ष में सृजन धर्म के समक्ष रोज़गार एक चुनौती बन जाता है । कभी ऐसा भी करना पडता है कि पैसे केलिए लिखना पडता है । या अन्य किसी काम में लग जाना पडता है । सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'कैद-ए-हायात' को इस सन्दर्भ में जोड़ सकते हैं कि इसमें मिर्जा गलिब एक इतिहास पात्र है। इसमें परवेज के शब्दों में रचनाकारों की आर्थिक विपन्नताओं को अभिव्यक्ति मिली है - "जब तक यह समझ होती है, तब तक अवतल तो वह गर्मी नाज़ुक गुंचा झुलसकर रह जाता है, जिसे एहसासों और जज़बातों ने बहुत मासूमियत से तराशा था । यह लताफत और सादगी ज़माने की सख्त आज़ादी तले रौंद दी जाती है । ऐसी जलालत के माहौल में अपना जौके सुखन बिलकुल बेमानी लगता है । और अगर कोई किसी तरह उस गुंचे को महफूज़ रख भी सके, तो उस सबके लिए फुर्सत कहाँ है ? जब दिन मर की मशक्कत के बाद थका-हारा घर वापिस आता है, तो सिर्फ इतनी ताकत बचती है कि दो रोटियाँ खाकर बिस्तर पर पड सके । बन्य शायरी में बहुत हसद होती है मिर्जा साहब । फिक्रे-सुकुन - और फिक्रे रोज़गार साथ-साथ नहीं चल सकते ।"[1]

मिर्जा को इसमें कर्ज के कारण घर में ही कैद रहना पडा था । उसकी आर्थिक विपन्नताएँ परिवार में तनाव उत्पन्न कर देती है। इसमें परवेज़ भी एक कवि है जिन्हें रोज़ी रोटी केलिए अपनी लेखनी छोड़नी पड़ती है । उसकी आर्थिक विपन्नताओं ने पूर्ण रूप से उसे एक कामकाजी बना दिया है ।

---

1. सुरेन्द्र वर्मा,कैद - ए-हायात, पृ. सं. 20

लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न हर काल में, हर देश में होता आ रहा है । रचनाकार को अपनी अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के संघर्ष को झेलना पडता है और इन दोनों स्तरों पर हमेशा संघर्ष होता रहता है । अभिव्यक्ति करते वक्त रचाकार मौजूदा समाज और समाज में व्याप्त हर तरह की समस्याओं को शब्दबद्ध करते हैं, ऐसे समय यह भीतरी और बाहरी संघर्ष होना स्वाभाविक है । आन्तरिक संघर्ष हर रचनाकार के अपने होते हैं । रचना करते वक्त रचनाकार अपने मन को अनेक पहलुओं से गुज़रते हुए देखता है । साहित्य हमेशा सीमाओं से मुक्त होना चाहा है । अगर किसी सीमा का समर्थन साहित्य करता है तो उसे आत्मविहीन ठहराया जायेगा । अगर साहित्य में कोई रोक डालना चाहता है तो अपनी स्वतंत्रता के लिए साहित्यकार को संघर्ष करना पड़ता है । अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का संकट वहीं से शुरू होता है । स्वतंत्रता को सृजनात्मकता के पर्याय के रूप में माना जा सकता है । स्वतंत्र हुए बिना मूल्याधिष्ठित साहित्य का सृजन संभव नहीं होगा । लेखक की स्वतंत्रता के सन्दर्भ में अनेक समस्याएँ हैं । लेखक अपनी अभिव्यक्ति के अंतर्गत समाज की प्रत्येक समस्या को रखता है और अपनी सृजनात्मक क्षमता का परिचय देता है । आज लेखनी पर धर्म और राजनीति द्वारा अंकुश लगाए जा रहे हैं । इस संकट स्थिति की एक वजह प्रबुद्ध पाठक वर्ग की कमी है । इसी कारण रचना विरोधी माहौल भी यहाँ पनप रहा है । परंपरागत रूढ़ियों एवं परंपरागत नैतिकता से लेखक को हमेशा संघर्ष करना पडता है । शासन नीतियों से स्वतंत्रता रचनाकार के अस्तित्व की कसौटी भी है । 'आठवाँ सर्ग' में कालिदास के लेखन-स्वातंत्र्य पर सत्ता द्वारा-अंकुश लगाना समकालीन व्यवस्था को ही व्यक्त करता है । समिति द्वारा किए गए अपमान और राजनीतिक दबाव के कारण कालिदास को कुमार संभव के आठवाँ सर्ग के बाद अधूरा छोडना पडता है । राजनैतिक षड्यन्त्र और परंपरागत धार्मिक एवं सामाजिक रूढियाँ

उसकी अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर प्रश्न चिह्न लगाती हैं । परंपरागत रूढियों से उन्हें समझौता भी करना पडता है । भारत में आपातकाल की घोषणा के समय में अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया था । जहाँ - जहाँ लेखनी में व्यवस्था के प्रति कठोर अभिव्यक्ति हुई है वहीं सब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कुण्ठित हुई है । एक संवेदनशून्य एवं अनुत्पादक होते समाज में साहित्य के प्रति हो रहे इस षड्यन्त्र पर रोक डालना कोई आसान काम नहीं है । एक अप-साहित्य और अप-संस्कृति के ढ़लान पर खडे समसामयिक दौर में सच्चे साहित्य का गला घोंटा जा रहा है । आज के सन्दर्भ में यह भी एक सच है कि जीवन की महत्ता एवं मूल्यों को वस्तुओं में बदलनेवाले बाज़ार तंत्र ने रचना धर्मिता के प्रयोजनों को भी व्यापार की दृष्टि से देखने केलिए साहित्यकार को विवश किया है । कृष्णा सोबती के विचारों को इस सन्दर्भ में जोड़ना समीचीन रहेगा कि वह कहती है "आज साहित्य की भाषाई सम्पन्नता में, उसकी तेजस्विता में ढूँढेंगे तो पाएंगे कि भाषा के वैचारिक अर्थ विज्ञापन की भाषा में भी घुल-मिल रहे हैं । यह प्रक्रिय छोटी नहीं, इतनी बडी कि नई भूमण्डलीय व्यावसायिकता को प्रभावित और प्रमाणित करने भी क्षमता रखती है । यह आज की भाषा का नया सम्प्रेषणीय व्याकरण है जिसकी शैली और चयन उपभोक्ता बाज़ार की देन है । इसकी साधन-सम्पन्नता इतनी है कि समाज की गम्भीर तात्विकता तक को समेटने की सामर्थ्य रखती साहित्य और कलाओं को अपने धन्धे में जज्ब करने की ताकत भी । इसके साथ-साथ यह पेचीदा बाज़ार-नागरिकता लेखक के अन्दर और बाहर के चिन्तन और विचार तक को तय करने लगती है । संस्कृति के नाम पर व्यावहारिक रिश्तों के अन्तर्विरोध भी हस्तक्षेप करते हैं। अधीश्वती गुप्त शक्तियाँ एक खास तरह के मौन संवेदन से निन्तर बौद्धिक और सांस्कृतिक जगत पर अपने पंजे ताने रहती हैं । यही वह गोलबन्दी है, घेराव है जो लेखक जाति की बौद्धिक स्वतंत्रता के आड़े आती है।"[1]

---

1. वागार्थ -(लेख-कृष्णा सोबती : लोक प्रतिष्ठा में ही लेखक का गणयंत्र है)

साहित्यकार को शर्तों एवं मानदण्डों के बन्दिश में बाँधना समकालीन दौर की विशेषता है । प्रबुद्ध लेखन की प्रतिष्ठा करने के बजाय उनकी स्वतंत्रता छीन कर नाजुक रचनाओं को प्रोत्साहित करना गम्भीर लेखन को हाशिए पर खडा कर देना है । उनके लेखन पर गलत आरोपों की बाढ़ ही छोड़ दी जाती है । आर्थिक वर्चस्व का शासन साहित्य के क्षेत्र में भी कायम है । कुछ लोगों ने अपना नाम और निशान स्थिर प्रतिष्ठित भी किया है । ये नाम और निशान धर्म, राजनीति या व्यवसाय के ठेकेदार के भी हो सकते हैं । 'आठवाँ सर्ग' में सुरेन्द्र वर्मा ने सौमित्र और प्रियंगु के संवाद के द्वारा यह प्रस्तुत भी किया है -

"सौमित्रः बहुत भयंकर... राजपुरोहित, धर्माध्यक्ष, महादण्डनायक, वरिष्ठ मंत्रीगण और नगर के तमाम प्रभावशाली व्यक्ति, सभी तो शैव धर्म के अनुयायी हैं । सम्राट ने स्वयं पूजारी महोदय से दीक्षा लेकर उन्हें धर्मगुरु की उपाधि दी थी, इसलिए वे भी उनके सामने.... (अटक जाता है)

प्रियंगु : वे धर्मगुरु का बहुत सम्मान करते हैं ।

सौमित्रः इसके बिलकुल विपरीत हमारी ओर से जो गिने चुने युवाकलाकार हैं, उनमें से किसी के पास कोई बडा पद नहीं, कोई विशेष प्रभावशाली नहीं । विरोध इतना प्रबल है कि स्वयं सम्राट को स्थिति सम्हालने में कठिनाई हो रही है । (ठहरकर) मैंने लक्ष्य किया है कि धर्माध्यक्ष विशेष रूप से उग्र है ।"[1]

सस्ती बाज़ारु साहित्य के सामने आम लेखनी छपाने केलिए कोई तैयार नहीं होता और छाप भी लेता है तो उसका फल भी कई तरह से रचनाकार को चुकाना पड़ता है । भारत में कई लेखक ऐसे भी हुए हैं जिन्हें लिखने के कारण कानून का भी मुकाबला करना पडा है। हिन्दी के एक प्रखर एवं प्रतिष्ठित नाटककार सफदर हश्मी का कुछ असामाजिकों ने

---

1. सुरेन्द्र वर्मा - आठवाँ सर्ग, पृ. सं. 40

अभिव्यक्ति के नाम पर हत्या की थी । नाटक करते वक्त मंच भर पर ही वे मार दिये गये थे। इसी प्रकार बंग्लादेशी लेखिका तस्लीमा नसरीन को अपनी रचना 'लज्जा' के नाम पर धर्म के पाखण्डियों ने फांसी की सजा सुनायी थी । इसी प्रकार सल्मान रुशदी को रुढ़ सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देने एवं उनके प्रति खुली अभिव्यक्ति करने के कारण अपने राज्य से निष्कासित होना पड़ा था । आज भी उन्हें अपनी ज़मीन पर रहने का हक नसीब नहीं है । आज भी वे धार्मिक पाखण्डियों के विरोध के शिकार हो रहे हैं । इसी तरह ब्रिटन में बेन जान्सन जैसे रूढ़ीवादी समीक्षकों ने शैक्सपियर के नाटकों को निकृष्ट सिद्ध करने की कोशिश की थी क्योंकि उनके साहित्य में व्यवस्था विरोधी स्वर था । कबीर और तुलसी की रचनाओं में भी उस समय के सामाजिक अंतर्विरोधों के प्रति उठाये गए स्वर मुखर थे । मानव विरोधी शक्तियों के प्रति आवाज़ उठाना खतरों को अपने ऊपर मोल लेने के बराबर है । 'यमगाथा' में दूधनाथ सिंह ने इन्द्र और वशिष्ठ के शब्दों में यही सत्य दिखाने की कोशिश की है । वशिष्ठ ऐसे मन्त्रों की रचना करता है जिसमें मनुष्यता का वर्णन हुआ है । मानव को उत्तेजित करनेवाले मन्त्रों की रचना करने के कारण इन्द्र उसे दण्डित करता है । इन्द्र पूछ लेता है -

"लेकिन अगर आपके बिम्बों में अनार्यों और दस्युओं में उत्तेजना फैलती हो तो ?

वसिष्ठ : यदि एक ऋषि सत्य-द्रष्टा है तो ऐसा तो होगा ही

इन्द्र : तो उसके लिए कौन उत्तरदायी है ?

वसिष्ठ : प्रकट है कि दस्युओं की गति ... वस्तुओं की गति में आने वाले अवरोध। घटनाएँ घटनाओं की दिशा । प्रकृति .... प्रकृति में होने वाले परिवर्तन.... अनार्यों और असुरों के बारे में आपके विचार.....

इन्द्र : मुझे विवाद में मत फंसाइए महर्षि मैं विवाद का आदी नहीं हूँ । बताइए, आप उषा के बारे में ही ऋकों की रचना क्यों कर रहे हैं ?

वसिष्ठः मनुष्यों को प्रकाश की ओर अग्नि की ओर नयनाभिराम दृश्यों की ओर उनकी अपनी ही आंखों की ओर, ऊर्जा की ओर, अधिकार की ओर, अस्तित्व की ओर, मनुष्यों को अपनी ही माता की ओर ले जाना यही तो है मेरा उषा - गान । क्या यह भी अपराध है देवेन्द्र...। [1]

धर्म एक ऐसा तंत्र है जिससे लोग जल्दी प्रभावित होते हैं । धर्म का अर्थ आज साप्रदायिकता है जो सबसे खतरनाक हथियार है । जहाँ-जहाँ साहित्यकार ने धर्म का खुलकर विरोध किया है वहीं साहित्यकार का अस्तित्व खतरे में पडा है । धर्म का प्रस्तुत रूप आठवाँ सर्ग' में देखा जा सकता है -"जानते हो, इस देश के लोगों को सबसे अधिक चोट कब पहुँचती है ? जब उनके धार्मिक क्रिया-कलापों में हस्तक्षेप होता है .... जब उनकी धार्मिक मान्यताओं को आघात लगता है ।"[2] लोगों की मानसिकता भी आज धार्मिकता के संबन्ध में थोडा संकीर्ण है । धार्मिक पाखण्डियों का कोई भी लक्ष्य धर्म से संबन्ध नहीं रखता । विद्रूप एवं आतंक की स्थितियाँ पैदा कर वे अपने लक्ष्य प्राप्त करते हैं । इसलिए तसलीमा नसरीन को फांसी की सजा सुनायी गयी थी और सलमान रुशदी पर फतवा चलायी गयी थी ।

साहित्य में विरोध और विद्रोह के शब्दों केलिए कोई जगह नहीं रह गयी है या मज़बूर होकर साहित्यकार को ऐसा करना पड़ता है । केरल में 'जीसस क्राइस्ट का छठा घाव' नाटक केरल के ईसाईयों की धार्मिकता पर करारी चोट करता है। अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों को हमेशा किसी न किसी प्रकार का विरोध झेलना पड़ा है । विरोध करनेवाले उसकी तहों तक पहुँचने के बजाय सतही तौर पर विरोध करते नज़र आते हैं ।

---

1. दूधनाथ सिंह - यमगाधा पृ. सं. 21-22
2. सुरेन्द्र वर्मा - आठवाँ सर्ग, पृ. सं. 54

साहित्य में शील-अश्लील

सामाजिक रीतियों, नैतिकता सार्वजानिक व्यवहार के मानकों, कला, साहित्य में अभिव्यक्ति के खुलेपन से संबन्धित चर्चा में आज कल अश्लीलता का प्रश्न बहुत उठ रहा है। हमारे इतिहास में इससे संबन्धित अनेक समस्यएँ हुई हैं विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में । श्यामाचरण दुबे के शब्दों में -"प्रतिबंधित क्रियाओं को सार्वजनिक रूप से करना या कला और साहित्य में ऐसे शब्दों या प्रदर्शनों का प्रयोग, जिन पर नैतिक और सामाजिक निषेध है, अश्लील माने जायेंगे ।"[1] प्रत्येक समाज में अश्लीलता के लिए विभाजन-रेखा अलग-अलग आधारों पर आश्रित है । उसके मानदण्ड अलग होते हैं याने भारत, अमेरिका, या इंग्लैड की संस्कृतियों में बहुत भिन्नताएँ हैं । वहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को स्वतंत्र दृष्टि से देखा जाता है लेकिन भारत में ऐसा नहीं ।

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न रचना के आधार पर किया जाना चाहिए । उदाहरण के लिए खुजराहों की मूर्तियाँ एक साधारण अनपढ आदमी केलिए अश्लील बन सकती है लेकिन एक कला के उपासक के लिए वह अश्लील नहीं होती- "कहा जा सकता है कि मन से ही पाप किया जाता है, शरीर से नहीं । एक ही शरीर से पत्नी और पुत्री दोनों का आलिंगन किया जाता है किन्तु दोनों की मानसिक अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं । इसी प्रकार अश्लीलता-श्लीलता का निर्धारण भी बहुत कुछ ध्येय और देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर करता है । किसी भी रचना की जाँच पड़ताल करते समय यह देखना ज़रूरी है कि लेखक ने जो चित्रण किया है वह उसकी रचनात्मक ईमान्दारी के लिए ज़रूरी था या उसने यों ही प्रदर्शन, चमत्कार अथवा मजा लेने केलिए कर दिया है।"[2] शील-अश्लीलता को साहित्य के सन्दर्भ में रखकर विचार करते वक्त एक तटस्थ दृष्टि की आवश्यकता है । साहित्य में शील-अश्लीलता के प्रश्न को

---

1. श्यामाचरण दुबे - परंपरा, इतिहास - बोध और संस्कृति, पृ. सं. 131
2. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी रचना के सरोकार, पृ. सं. 95

एक समस्या के रूप में नहीं देख सकतें । यौन सम्बन्धों की खुली अभिव्यक्ति को अश्लीलता के रूप में साहित्य में माना जाता है । श्लीलता का मानदण्ड उत्कृष्ट नैतिक मूल्य है लेकिन साहित्य में दोनों की अकेली अभिव्यक्ति कोई सार्थक मूल्य प्रदान नहीं करती । "आठवाँ सर्ग' में सुरेन्द्र वर्मा ने शील अश्लीलता की इस चिरन्तन समस्या को पाठकों के सामने रखा है । आठवें सर्ग में अश्लीलता का आरोप उस रचना का ही अंत कर देता है । कालिदास इस काव्य को अधूरा छोड देता है । समाज की रूढ़ीवादी मानसिकता ने सच्चे साहित्य को विरले ही स्वीकार किया है । भारत के अनेक रचनाकारों को इन रूढ़ीवादी मानसिकता का शिकार होना पडा है । सच यह है कि किसी भी साहित्यकार अपनी साहित्य रचना करते वक्त न कोई मतवाद को स्वीकार करता है न परम्परागत नैतिकता को । उसके सामने केवल ज़िन्दगी की वास्तविकताएँ ही होती हैं । इस वास्तविकता की अभिव्यक्ति करने में किसी भी तरह की बाधा रचनाकार स्वीकार नहीं करते । रचना के अनुकूल भावों की अभिव्यक्ति करना रचना का धर्म है । इसलिए कालिदास कहता है -

"महादेव देवाधिदेव ही नहीं, रसाधिराज भी है । इस काव्य में उनके दोनों ही रूपों को प्रतिष्ठित किया गया है । दूसरे रूप को इसलिए, क्योंकि संसार में भावना की गहराई और सघनता सबसे अधिक स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में ही मानी गयी है । काव्य के श्रृंगार को इसलिए तो रसराज कहते हैं । लेकिन फिर भी अगर किसी को इस प्रसंग पर आपत्ति हो, तो उसे पुरुष और प्रकृति के मिलन का प्रतीक माना जा सकता है।"[1]

इससे एक बात स्थापित हो जाती है कि कला को किसी संकीर्ण घेरे में कैद नहीं कर सकते । क्योंकि कला एक तटस्थ दृष्टि है जो मानवीय चेतना के साथ-साथ सत्यों का भी उद्‌घाटन करती है ।

---

1. सुरेन्द्र वर्मा - आठवाँ सर्ग, पृ. सं. 54

निष्कर्ष

संस्कृति मानव की समस्त चेतना की वाहिनी है । साहित्य और संस्कृति एक दूसरे का पूरक है । लेकिन साहित्य में चिरंतन को खोजने और पाने की तड़प होती है और देश और काल की सीमाओं को लांघकर वह कतिपय शाश्वत सत्यों तक पहूँचने का प्रयत्न करता है । साहित्य की वाणी युग की वाणी न होकर युग-युग की वाणी होती है । युग के यथार्थ से मुँह मोड़नेवाला साहित्य पलायनवाद ही कहा जाएगा । लेकिन आज की स्थिति में साहित्य को संस्कृति के वाहक होने में कई प्रकार की बाधाओं को झेलना पड़ रहा है । साहित्यकार सत्ता और अनेक रूढिवादी ताकतों का शिकार हो रहा है । आर्थिक पराधीनता भी साहित्यकार की एक बुनियादी समस्या है । प्रतिकूल परिस्थितियों में लिख कर भी वे हाशिये पर धकेल दिये जाते हैं । साहित्य में भी वर्तमान अपसंस्कृति का प्रहार सहना पड़ रहा है । सच्चे साहित्य के मानदण्ड बदल रहे हैं । उसे संकीर्ण और रूढ मान्यताओं के साथ समझौता करना पड़ रहा है।

हिन्दी के समकालीन नाटककारों ने अपने मिथकीय नाटको में समकालीन सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की है । इस दृष्टि से भीष्म साहनी के 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', हानूश, लक्ष्मीनारायण लाल का 'नरसिंह कथा', सुरेन्द्रवर्मा का 'आठवाँ सर्ग', दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' नरेन्द्रमोहन का 'कहै कबीर सुनो भाई साधो', प्रताप सहगल का 'अवशेष', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य "मणिमधुकर का 'इकतारे की आँख' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं । निरंकुश शासन के दमन और अत्याचार के फलस्वरूप जो सांस्कृतिक संकट पैदा होता है, उसी का चित्रण 'नरसिंह कथा' में हुआ है । 'एक और द्रोणाचार्य' में शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों के यथार्थ चित्र को पेश किया गया है। 'आठवां सर्ग' में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की समस्या का रेखांकन हुआ है । धर्म के क्षेत्र में व्याप्त अनाचार और पाखण्ड का भंडाफोड भीष्म साहनी के 'कबिरा खडा बाज़ार में हुआ है, नरेन्द्रमोहन के कहै कबीर, सुनो भाई साधो, मणि मधु कर के 'इकतारे की आँख' आदि नाटकों में हुआ है । समकालीन सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति में ये नाटक अत्यन्त सफल हुए हैं ।

❖ ❖ ❖

उपसंहार

उपसंहार

साहित्य मनुष्य के जीवनानुभवों के विशिष्ट क्षणों की अभिव्यक्ति है । इन क्षणों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने केलिए सजग और संवेदनशील साहित्यकार कई माध्यमों का प्रयोग करते हैं । इन में मिथक सर्वाधिक सशक्त और सफल प्रयोग सिद्ध हुआ है। क्योंकि मिथक अतीत और वर्तमान के बीच का अन्तराल कम करनेवाला सेतुबन्ध होता है । मिथक और यथार्थ का अभिन्न सम्बन्ध है । प्रत्येक मिथकों के माध्यम से वर्तमान जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति करना लेखक का अभीष्ट है । इसलिए मिथकीय अभिव्यक्ति में यथार्थवादी दृष्टि छिपी रहती है । साहित्य में मिथक का प्रयोग प्रभावशाली होता है । साहित्य ही मिथक को नया अर्थ देता है । साहित्य और मिथक की संवेदना अपनी निरन्तरता में ही पल्लवित होकर पूर्णता प्राप्त करती है । नाटक में युगीन चेतना एवं संवेदना की समर्थ अभिव्यक्ति में मिथक महान भूमिका अदा कर रहा है । इसके फलस्वरूप अनेक समाजोन्मुखी नाटकों की रचना हुई है ।

मिथकीय पात्रों या पुरावृत्त या पौराणिक घटनाओं को लेकर हिन्दी साहित्य में अनेकानेक नाटकों की रचना हुई है । किन्तु आधुनिक नाटककारों ने एक खास दृष्टि से मिथक का उपयोग किया है । उन्होंने पौराणिक आख्यानों में आधुनिक संभावनाओं की खोज की है । समकालीन नाटककारों ने 'अतीत' के अप्रकाशित अंश को प्रकाशित करने' की अपेक्षा उन्हीं विशिष्ट अंशों एवं सार्थक सन्दर्भों की ओर ध्यान दिया जो समकालीन जीवन को उद्घाटित करें। उन्होंने प्राचीनता के उन अंशों को स्वीकार किया जिस में समकालीन जीवन यथार्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता ज़्यादा हो । समकालीन नाटककारों ने अतीत को एक अविभाज्य समय के रूप में ग्रहण किया है । इतिहास के परिपार्श्व से उन्होंने एक क्षण को उपलब्ध किया है जो अतीत में भी था वर्तमान में भी है और भविष्य में भी हो सकता है । इतिहास की स्थूल

विभाजक रेखा उस क्षण में टकराकर समाप्त हो जाती है । उनके लिए घटनात्मक इतिहास का कोई महत्व नहीं, किन्तु उसके बीच ऐसा मार्मिक क्षण है, जो समय को अविभाज्य रूप में एक केन्द्र पर वहन करता है । वस्तुतः समकालीन नाटककारों ने इतिहास-पुराण के सन्दर्भों या पात्रों को लेकर 'आज के यथार्थ' का अंकन किया है । उनकी नाट्यकृतियाँ अपने वस्तु सन्दर्भ में अतीत को समेटे हुए भी अपना प्रभाव वर्तमान जनजीवन पर छोडती हैं । इनकी प्राचीनता नयी संवेदना से संपृक्त होकर अपना रूप त्याग देती है । इसलिए इन नाट्य-कृतियों का इतिहास-पुराण एक संकेत, एक प्रतीक बनकर दर्शकों के सामने ऐसा प्रभाव छोड़ जाता है जो एक ओर परंपराओं से जुड़कर अपनी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता सिद्ध करता है, तो दूसरी ओर 'सांकेतिकता के माध्यम' से पुरावृत्त के आवरण में एक नया दर्शन पेश करता है समकालीन जीवन यथार्थ ही रचनात्मक स्तर पर इन मिथकीय नाटकों को महत्पूर्ण बनाता है ।

भारतेन्दु युग से लेकर हिन्दी नाटकों में मिथकीय प्रयोगों का वर्चस्व रहा है । उन्नीसवीं शदाब्दी के उत्तरार्थ में भारतेन्दु द्वारा रचित 'नीलदेवी' से ही हिन्दी में मिथकीय नाटकों का सूत्रपात माना जाता है । भारतेन्दु युग के अन्य नाटककारों ने इस परम्परा को विकसित किया। भारतेन्दु युग से लेकर लगभग सभी नाटककारों ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक मिथकों को लेकर अनेक नाटकों की रचना की है । भारतेन्दु युग में अतीत कालीन सन्दर्भों को नाटकों में प्रयोग करने का उद्देश्य देशवासियों में नवजागरण प्रदान करना था । इस युग के नाटककार देश की तत्कालीन स्थितियों से बहुत प्रभावित हुए थे । पौराणिक गौरव खोये हुए मूल्यों को पुनःस्थापित करने के लिए सफल सिद्ध हुआ । प्रत्येक नाटककार ने इस बात को दृष्टि में रखकर नाटकों की रचना की । अनेक मिथकों द्वारा नाटककारों ने युगानुरूप सन्दर्भों की अभिव्यक्ति करके सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं से हमे अवगत कराया। आधुनिक युग तक

आते-आते नाटककारों ने एक खास नज़रिया अपनाकर पुराण एवं इतिहास को युगीन यथार्थ के साथ जोड़ा और उसमें नवीन भावबोध की तलाश की ।

जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक एवं पौराणिक सन्दर्भ के मिथकीय नाटकों में युगीन तथा शाश्वत समस्याएँ अवश्य उभरकर आईं, किन्तु इन नाटककारों में समाधान और आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा । स्वातंत्र्योत्तर और समकालीन नाटककारों ने इतिहास-पुराण के मिथकों के आन्तरिक भावबोध को सक्रिय युग चेतना से संपृक्त करके प्रस्तुत किया है । स्वतंत्रता पूर्व के नाट्यकारों की भांति स्वातंत्र्योत्तर और समकालीन नाटककार जैसे जगदीश चन्द्र माथुर धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्रवर्मा, शंकरशेष, रमेश भक्षी, वृजमोहन शाह, दयाप्रकाश सिंहा, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, भीष्म साहनी, प्रभाकर क्षेत्रीय, नन्द किशोर आचार्य, नरेन्द्र मोहन, प्रताप सहगल आदि ने ऐतिहासिक पौराणिक मिथकों को उभारा । जीवन के विकसित मूल्य और उनके संपूर्ण फैलाव को इनके द्वारा रचित समकालीन मिथकीय नाटकों में रेखांकित किया गया है ।

समकालीन नाटकों में ऐतिहासिक एवं पौराणिक सन्दर्भों को संकेत के रूप में उपयोग करते हुए पुराख्यानों और प्रतीकों की, अपनी दृष्टि से समयानुकूल व्याख्या की गयी । कई नाट्य-कृतियों में तो नाटककारों ने परंपरागत इतिवृत्त को सर्वथा बदलकर अपनी माँग के अनुसार उसका उपयोग किया । समकालीन दौर के मिथकीय नाटकों में लक्ष्मीनारायण लाल के 'नरसिंह कथा', 'राम की लडाई' एवं 'बलराम की तीर्थयात्रा' सुरेन्द्रवर्मा के 'आठवां सर्ग' एवं 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य, दयाप्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस' की गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', भीष्मसाहनी के 'कबिरा खडा बाज़ार में', 'हानूश' एवं माधवी, नरेन्द्र मोहन का कहै कबीर सुनो भाई साधो

रेवती शरण शर्मा का "राजा बलि की नई कहानी" मणिमधुकर का "इकतारे की आँख", प्रभाकर क्षेत्रीय का 'इला', दूधनाथ सिंह का यमगाथा' नन्द किशोर आचार्य का 'देहान्तर', प्रताप सहगल का 'अन्वेषक' आदि उल्लेखनीय हैं । इन नाटकों में समयुगीन समाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए मिथकीय सन्दर्भों और पात्रों का प्रयोग किया गया ।

समकालीन नाटककारों ने सामाजिक समस्याओं को बखूबी से चित्रित किया है । आज का समाज आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों और समस्याओं से जूझता हुआ स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर, शक्तिशाली, विकसित, आत्मसम्मान और सचेत बनने की प्रतीक्षा में है । लेकिन आज समाज से सकारात्मक मूल्यों का ह्रास होता हुआ दिखाई दे रहा है । व्यक्ति, परिवार एवं सम्बन्धों की ऊर्वरता नहीं के बराबर है । स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आज नए क्षितिजों को तलाश रहा है । नैतिक मान्यताएँ टूट रही हैं । इससे सांस्कृतिक संकट पैदा हो रहा है । क्योंकि आज के समाज के ऊपर उपभोक्तवाद जैसी आयात संस्कृतियों का राज है । इस प्रकार के सांस्कृतिक परिवर्तनों ने जीवन के बहुत सारे अर्थ-सन्दर्भों, आचार-शिष्टाचारों को बदल दिया है । राजनीति भी जनता को असमंजसता की स्थिति में ला खडा कर दिया है । राजनीति आज अपने मूल आदर्शों को खो दिया है । जनता का शासकों तथा राजनेताओं से विश्वास उठ गया है । क्योंकि शासन, चुनाव, नेता आदि में सत्ता की भूख चढ़ गयी है । आज की राजनीति में जातिवाद की मुख्यता है- यह आज राष्ट्र के विकास की धारा को विघटित कर रहा है ।

समकालीन नाटककारों ने जीवन की समस्याओं के विभिन्न आयामों को मिथक और यथार्थ की शक्ति से अपने नाटकों में चित्रांकित किया है । आज सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह बदल गयी है । वर्ग-हित और व्यक्ति-हित की भावना ने समाज में व्यापक स्तर पर भ्रष्टाचार

का प्रसार किया है । फलस्वरूप सामाजिक जीवन में एक विशेष प्रकार का तनाव परिलक्षित होने लगा है । आज के माहौल में समस्त मानवीय जीवन क्षुब्ध और विछृंखल होने की दिशा ग्रहण कर चुका है । यांत्रिकता और वैज्ञानिकता भी भारतीय-अन्तर्मन को झकझोर रही है । ऐसी स्थिति में लोगों के हृदय अपने घर से बेघर हो रहे हैं, अपनी चिन्ताओं से दूर होते जा रहे हैं । सामाजिक स्थितियों एवं अव्यवस्थाओं का समग्र चित्रण इन मिथकीय नाटकों में हुआ है।

समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें मनुष्य अपने अस्तित्व को कायम रखता है । समाज के बिना मनुष्य निष्प्राण है और मनुष्य के बिना समाज का भी अस्तित्व नहीं है । समाज युग सापेक्ष है इसलिए युग बदलता है तो समाज भी बदलता रहता है । इसके रहन-सहन, आचार-विचार, मूल्य-व्यवहार, भावबोध सबकुछ बदलता है । साहित्य तो इन बदलती हुई युगीन परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करानेवाला सशक्त माध्यम है । आज पूरे विश्व संकट और तनाव के असाधारण समय से गुज़र रहा है । वैचारिकता के प्रति लगाव ने समाज में कई अतर्विरोधों को जन्म दिया है । यहां तक कि मनुष्य के निजी जीवन को नियन्त्रित करने केलिए छ्द्म यथार्थों का प्रचार हो रहा है । समाज में सकारात्मक मूल्यों का ह्रास होता हुआ दिखाई दे रहा है । व्यक्ति, परिवार एवं संबन्धों की उर्वरता नहीं के बराबर है । हर व्यक्ति कई अन्तर्द्वद्वों से पीड़ित हैं । समकालीन सामाजिक यथार्थ के अंतर्गत तत्कालीन सामाजिक परिवेश, सामाजिक जीवन के विभिन्न आयाम जैसे व्यक्ति, परिवार, पारिवारिक संबन्ध, नैतिकता, नारी जीवन, नारी अस्मिता आदि तमाम समस्याओं को पकड़ने की कोशिश लक्ष्मीनारायणलाल के 'यक्ष-प्रश्न' एवं 'मिस्टर अभिमन्यु', सुरेन्द्र वर्मा के 'आठवाँ सर्ग' एवं 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक', शंकरशेष के 'एक और द्रोणाचार्य' एवं 'कोमल गांधार', प्रभाकर श्रोत्रीय का 'इला', भीष्म साहनी का 'माधवी', रमेश बक्षी का 'देवयानी का कहना है' आदि मिथकीय नाटकों के द्वारा किया गया है ।

किसी भी देश की शासन-व्यवस्था को सुव्यवस्थित और सुचारू ढ़ंग से चलाने केलिए विशेष नीतियां निर्धारित की जाती है, वही विशेष नीतियाँ उस देश की राजनीति हैं । वह प्रत्येक देश की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का दर्पण होती है । यही नहीं, एक राष्ट्र के भविष्य को निर्धारित करना उस राष्ट्र की राजनीति का प्रथम कर्त्तव्य है । राजनीति की जिन धाराओं से वर्तमान भारत गुज़र रहा है वहाँ अराजकता, भ्रष्टाचार, क्षेत्रवाद, जातिवाद आदि को ही प्रश्रय मिल रहा है । हमारी राजनीति आज असमंजसता की राजनीति है । जनता का शासकों तथा राजनेताओं से विश्वास उठ गया है । राजनीति का चरम लक्ष्य आज शक्ति और अधिकार हासिल करना रहा है । जिनके पास धन और बाहुबल है, वे राजनीति के ठेकेदार बने हुए हैं। राजनीति का मूल आदर्श जो गाँधी के समय में था अब नष्ट हो चुका है । अब न सत्य का राज है न अहिंसा का, न मानवता का, हर ओर हिंसा, झूठ तथा पाशविकता का दृश्य ही दिखाई दे रहा है । शासन, चुनाव, नेता आदि में सत्ता की भूख चढ़ गयी है । आज की राजनीति में जातिवाद की मुख्यता है, यह आज राष्ट्र के विकास की धारा को विघटित कर रहा है । सांप्रदायिकता की बढ़ती हुई लहरें यही सूचित करती हैं । लक्ष्मी नारायण लाल के 'नरसिंह कथा', 'मिस्टर अभिमन्यु', शंकरशेष के 'एक और द्रोणाचार्य' एवं 'कोमल गांधार', दयाप्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा', भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' आदि नाटकों में तत्कालीन राजनैतिक यथार्थ की सच्ची अभिव्यक्ति मिलती है ।

संस्कृति मानव के विकासमय स्वरूप का जीवन्त उदाहरण है । यह वह शक्ति है जो पूरे मानव समाज को संपूर्णता एवं सत् भावनाएँ प्रदान करती हैं । मानव की अविराम साधना के परिणास्वरूप जीवन के जो उदात्त आदर्श प्रतिष्ठित हुए हैं उन्हीं के समेकित रूप को संस्कृति

की संज्ञा दी जाती है । भाषा, कला, दर्शन, शिक्षा, साहित्य आदि संस्कृति के तहत आते हैं। आज सांस्कृतिक संकट की चर्चा अधिक हो रही है । औद्योगिक-यांत्रिक चक्र ने मानव को संत्रास की स्थिति में रहने के लिए विवश कर दिया है । इस प्रकार के सांस्कृतिक परिवर्तनों ने जीवन के बहुत सारे अर्थ-संदर्भों, आचार-शिष्टाचारों को बदल दिया है । यहां तक कि कला और संस्कृति के उपादानों में वर्तमान अपसंस्कृति की रंजिश पड़ी हुई है । आज हमारे समाज में कुछ लोग हैं जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को भ्रष्ट करने में तुले हुए हैं । इन लोगों की संख्या आज बढ़ती जा रही है । अपनी पूँजी एवं अधिकारों को बनाये रखना इन लोगों का मुख्य ध्येय है । सत्ता भी ऐसे लोगों से मिली हुई है । समाज में व्याप्त हो रहे इन नकारात्मक मूल्यों के प्रति समय-समय में रचनाकारों ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है । क्योंकि साहित्यकार संस्कृति के संवाहक एवं संरक्षक भी है । रचनाकार हमेशा सामाजिक रूढ़ियों तथा विसंगतियों को तोड़ना चाहते हैं, ऐसे रचनाकारों को कई रूढ़ और संकीर्ण ताकतों से लोहा लेना पड़ता है । उनकी अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया जाता है । सत्ता द्वारा स्वतंत्र चेतना पर अंकुश लगाने की प्रवृत्ति बहुत काल से चली आ रही है । रचनाकार की सृजनशीलता और सत्ता के बीच द्वंद्व परंपरागत है । इसके साथ शील-अश्लील की समस्या रचनाकार की चिरंतन समस्या है जिसे लेकर प्रत्येक युग में रचनाकार को संघर्ष करना पड़ता है । इस विघटित सांस्कृतिक यथार्थ को पकड़ने की कोशिश सुरेन्द्र वर्मा के 'आठवाँ सर्ग', 'कैद-ए-हयात' भीष्म साहनी के 'हानुश' एवं 'कबिरा खडा बाज़ार में ' आदि नाटकों में हुई है ।

समकालीन मिथकीय नाटकों द्वारा नाटककारों ने समाज संचेतक की भूमिका अच्छी तरह निभायी है । उन्होंने हमारी समकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए मिथक का प्रश्रय लिया है । उनके नाटकों में भूत, वर्तमान और भविष्य

को प्रकाशित करने की क्षमता है । समकालीन नाटककारों ने एक खास नज़रिए से पुराण एवं इतिहास को युगीन यथार्थ के साथ-जोड़ा और उसमें नवीन भावबोध की तलाश की । उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ को मिथकों के प्रत्येक पहलुओं में तलाश की और नाटक को पूर्ण रूप से यथार्थ के साथ जोड़ा। लोक आस्था को जगाने, सचेत और अभिभूत करने में समकालीन नाटकों में प्रयुक्त मिथक उपयोगी सिद्ध हुआ है । जीवन के बदलते मूल्यों को व्यक्त करने में भी मिथक का प्रयोग प्रभावशाली ठहरा है । मिथक के प्रयोग के द्वारा समकालीन नाटककारों ने अतीत में जीने की अपेक्षा अतीत में ही वर्तमान के अनुकूल भाव-भंगिमा एवं अर्थबोध पैदा करने की कोशिश की है । समकालीन नाटकों में उत्कृष्ट रंगमंचीय तत्व भी विद्यमान हैं ।

❖ ❖ ❖

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

1	आठवाँ सर्ग	सुरेन्द्र वर्मा राधाकृष्णा प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली द्वितीय संस्करण : 1975
2	इला	प्रभाकर श्रोत्रीय प्रभात प्रकाशन चावडी बाज़ार, दिल्ली प्रथम संस्करण : 1989
3	एक और द्रोणाचार्य	शंकर शेष पराग प्रकाशन दिल्ली संस्करण 1978
4	कथा एक कंस की	दयाप्रकाश सिन्हा अक्षर प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1976
5	कोमल गांधार	शंकर शेष पराग प्रकाशन, दिल्ली तृतीय संस्करण : 1988
6	कैद-ए-हायात	सुरेन्द्र वर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 2/38, अंसारी रोड, दयिलागड नई दिल्ली - 110 002 पहला संस्करण - 1993

7	कबिरा खडा बाज़ार में	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नेताजी सुभाष मार्ग ऩयी दिल्ली - 110 002
8	देवयानी का कहना है	रमेश बक्षी इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली
9	देहांतर	नन्द किशोर आचार्य नटरंग,
10	नरसिंह कथा	लक्ष्मीनारायण लाल दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1975
11	प्रजा ही रहने दो	गिरिराज किशोर नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वितीय संस्करण - 1987
12	बलराम की तीर्थ यात्रा	लक्ष्मीनारायण लाल पीतांबर पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1987
13	माधवी	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1984
14	मिस्टर अभिमन्यु	लक्ष्मीनारायण लाल दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1975

15	यमगाथा	दूधनाथ सिंह लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण - 1979
16	यक्ष प्रश्न	लक्ष्मीनारायण लाल राजपाल एण्ड संस दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1976
17	राजा बलि की नई कहानी	रेवतीशरण शर्मा, विद्या प्रकाशन मन्दिर दिल्ली, 1981
18	राम की लडाई,	लक्ष्मीनारायण लाल राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1979
19	सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक	सुरेन्द्र वर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1975
20	सेतुबंध	सुरेन्द्र वर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली
21	हानुश	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1979

सहायक ग्रन्थ

1	आधुनिक हिन्दी मराठी नाटक	डॉ. माधव सोनटक्के संचय प्रकाशन 124/152, सी. गोविन्द नगर कानपुर - 6, प्रथम संस्करण - 1988

2	आधुनिक नाटकः दृष्टि एवं शिल्प	डॉ. देवेन्द्र स्वामी भावना प्रकाशन पटपडगंज, दिल्ली - 110 091 प्रथम संस्करण - 2006
3.	अज्ञेय के काव्य में मिथकीय संचेतना	डॉ. माधुरी पाण्डेय संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी - 221 001 प्रथम संस्करण - 1999
4.	आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली	डॉ. मुकुन्द द्विवेदी राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली - 110 002 प्रथम संस्करण - 1981
5.	आधुनिक नाटक और नाट्यकार	डॉ. रामकुमार गुप्त जवाहर पुस्तकालय असकुण्डा बाज़ार मथुरा संस्करण - 1973
6.	आज की राजनीति और भ्रष्टाचार	नरेन्द्र मोहन राजपाल एण्ड सन्ज़ मदरसा रोड, कश्मीरी रोट दिल्ली, संस्करण - 1997
7.	आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना	गोविन्द चातक तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण - 1982
8.	आधुनिक हिन्दी नाटकों में संघर्ष तत्व	डॉ. श्रा. का. गायकवाड पुस्तक संस्थान 109/50ए, नोहरू नगर कानपुर - 12

9.	आधुनिक हिन्दी निबन्ध	डॉ. राजेन्द्र मोहन मटनागर सामाजिक प्रकाशन 3543, जटवाडा, दरियागंज नई दिल्ली - 110 002
10.	आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच	डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल साहित्य भवन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1973
11.	आधुनिक हिन्दी नाटक में प्रयोगधार्मिता	डॉ. सत्यवती त्रिपाठी राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1990
12.	उपनिवेश में स्त्री-मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ	प्रभा खेतान राजकमल प्रकाशन 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली - 110 002
13.	धर्म और जीवन	सूर्य नारायण भट्ट सरस्वती प्रकाशन मन्दिर 69, नया बैरहना इलाहाबाद - 211 003 प्रथम संस्करण - 1990
14.	धर्म और सांप्रदायिकता	नरेन्द्र मोहन प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 4/19. आसफ अली रोड, नई दिल्ली - 110 002 प्रथम संस्करण - 1996
15.	न लिखने का कारण	राजेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन, 215 दरियागंज, नयी दिल्ली - 110 002

16. नाटक की साहित्यिक संरचना	गोविन्द चातक तक्षशिला प्रकाशन 23/ 4762, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली - 110 002
17. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल	डॉ. सरजुप्रसाद मिश्र पंचशील प्रकाशन, जयपुर संस्करण - 1980
18. नाट्य विमर्श	डॉ. रमेश गौतम (सं) सम्राट पब्लिकेशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1988-89
19 नारी विद्रोह के भारतीय मंच	आशारानी ब्होरा नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, नयी दिल्ली - 110 002
20 कोणार्कः रंग और संवेदना	डॉ. नरनारायण राय कादम्बरी प्रकाशन 545, शिव मार्किट न्यू चंन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली - 110 007 प्रथम संस्करण - 1977
21. प्रसाद के नाटकः युग-साक्ष्य	डॉ. रमेश गौतम सम्राट पब्लिकेशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1988-89
22. प्रयोगधर्मी नाटककारः जगदीश चन्द्र माथुर	मीनाक्षी काला शारदा प्रकाशन, 33/1, भुलभुलैया रोड महरौली, नई दिल्ली - 110 030

23. भारत में राजनीतिः कल और आज
रजनी कोठारी
हिन्दी प्रस्तुति और संपादनः
अभयकुमार दुबे, वाणी प्रकाशन
4697/5, 21 ए, दरियागंज
नयी दिल्ली - 110 002

24. भारतीय राजनीति के अंतर्विरोध
मधु लिमाये
सारांश प्रकाशन प्र. लि.
142 ई, पौकिट-4, मयूर विहार-1
दिल्ली - 110 091
प्रथम संस्करण - 1996

25. भारतीय समाज
श्यामाचरण दुबे,
नेशनल बुक यूस्ट ईंडिया
ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली - 110
016, प्रथम संस्करण - 2001

26. भ्रष्ट समाज
चंदन मित्रा
किताबघर प्रकाशन, 24
अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली - 110 002
प्रथम संस्करण - 2001

27. भ्रष्टाचार की चुनौती
राजकिशोर (सं)
वाणी प्रकाशन, 215
दरियागंज, नयी दिल्ली - 110 002

28. मिथकीय अवधारणा और यथार्थ
रमेश गौतम
राधारानी प्रकाशन, 29/61,
गली तं - 11 विश्वास नगर
दिल्ली - 110 032
प्रथम संस्करण - 1977

30. मिथक और आधुनिक कविता

डॉ. शंभुनाथ
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज,
नयी दिल्ली - 110 002
प्रथम संस्करण - 1985

31. मिथक और भाषा

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
प्रकाशकः दिलीप कुमार मुखर्जी
अशुतोष बिल्डिंग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कलकत्ता - 700 073
प्रकाशन काल - 1981

32. मिथक उद्‌भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य

डॉ. उषापुरी विद्यावाचस्पति
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज,
नयी दिल्ली - 110 002
प्रथम संस्करण - 1986

33. मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य

डॉ. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी

34. मिथक पुनर्सृजन-इला और प्रभाकर श्रोत्रीय का रंग संसार

डॉ. विभुकुमार (सं)
किताबघर प्रकाशन, 24,
अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली - 110 002
प्रथम संस्करण - 2001

35. मिथक, प्रतीक और कविता

डॉ. दिनेश्वर प्रसाद
जयभारति प्रकाशन
258य365 मुठ्ठीगंज,
माया प्रेस रोड
इलाहाबाद - 211 003,
प्रथम संस्क्रण - 1999

36. मिथक और साहित्य	डॉ. नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, परियागंज नयी दिल्ली - 110 002 प्रथम संस्करण - 1984
37. रंग परंपरा : भारतीय नाट्य में निरन्तरता और बदलाव	नेमीचन्द्र जैन वाणी प्रकाशन, 215 दरियागंज, नयी दिल्ली - 110 002
38. रंग-भाषा	गिरीश रस्तोगी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय बहावलपुर हाउस नई दिल्ली - 110 001 प्रथम संस्करण - 1999
39. रंग - साक्षात्कार	जयदेव तनेजा किताब घर, प्रथम संस्करण - 2001
40. समकालीन भारत	मनोहर पुरी एवं उषा पुरी अनमोल साहित्य प्रकाशन बी-3/235, पश्चिम विहार, नई दिल्ली - 110 063
41. समकालीन नाटक दिशा और दशा	डॉ. पि.ए. शमीम अलियार जवाहर पुस्तकालय मथुरा, प्रथम संस्करण - 2007
42. समकालीन रंग नाटक	डॉ. आर. शशिधरन जवाहर पुस्तकालय मथुरा, प्रथम संस्करण - 2007
43. समय, समाज और संस्कृति	प्रेतपाल शर्मा मेधा बुक्स, एक्स - 11 नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110 032 प्रथम संस्करण - 2002

44. साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति	रत्नकुमार पाण्डेय (सं) विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वारणासी, संस्करण - 1995
45. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक	डॉ. शेखर शर्मा भावना प्रकाशन, पटपटगंण दिल्ली - 110 092, प्रथम संस्करण - 1998
46. संस्कृति और साहित्य	डॉ. हेतु मरद्वाज मंथन पब्लिकेशन ए - 243, त्रिवेणी नगर गोपालपुरा बाईपास, जयपूर, संस्करण - 2004
47. साहित्य और संस्कृति	मोहन राकेश राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दारियागंज, नई दिल्ली - 110 002
48. साहित्य और संस्कृति	डॉ. शिवकुमार मिश्र वाणी प्रकाशन, 215, दरियागंज, नयी दिल्ली - 110 002
49. साहित्य और स्वतंत्रताः प्रश्न-प्रतिप्रश्न	देवेन्द्र इस्सर भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली -110 003 पहला संस्करण - 2005
50. समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य	डॉ. परवीन अख्तर विकास प्रकाशन 31/सी विश्व बैंक बर्श, कानपूरु - 27 प्रथम संस्करण - 2007

51.	समकालीन हिन्दी नाटक : रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में	डॉ. मिथिलेश गुप्ता भावना प्रकाशन, पटपडगंज दिल्ली - 110 091, प्रथम संस्करण - 2004.
52.	समसामयिक हिन्दी नाटकों का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. गजानन सुर्वे साहित्य रत्नालय, 37/50, गिलिस बाज़ार कानपुर - 208 001
53.	साठोत्तर हिन्दी नाटकों में नारी की दशा और दिशा	डॉ. मीना पण्डया भावना प्रकाशन 126, पटपडगंज, दिल्ली संस्करण - 1999
54.	समसामयिक हिन्दी नाटकों में खंडित व्यक्तित्व अंकन	डॉ. टी. आप. पटिल राधाकृष्ण प्रकाशन 21/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली - 110 002
55.	सहचिन्तन	अमृतराय सर्जना प्रकाशन, धूपछाहँ अशोक नगर, इलाहाबाद
56.	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास तत्व	डॉ. धनंजय रचना प्रकाशन 48-44, खुलदाबाद इलाहाबाद - 1 प्रथम संस्करण - 1970
57.	हिन्दी नाटक और नाटककार	डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल चन्द्र नीलम मसन्द पुस्तक संस्थान, 109/80ए नेहरू नगर, कानपुर - 209 012 संस्करण - 1977

58. हिन्दी नाटक और रंगमंचः पहचान और परख
डॉ. इन्द्रनाथ मदान (सं)
लिपि प्रकाशन, ई - 10/4,
कृष्ण नगर, दिल्ली - 110 051

59. हिन्दी नाटक : इतिहास दृष्टि और समकालीन-बोध
डॉ. प्रभात शर्मा
संजय प्रकाशन, 4378/4 बी,
209 जे.एस. ही हाउस
गली मुरारी लाल,
अंसारी रोड, दरियगंज
नई दिल्ली - 110 002,
प्रथम संस्करण - 2006

60. हिन्दी की नई कहानी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन
मिथिलेश रोहतगी
शलभ पुस्तक हाउस, मेरठ
प्रथम संस्करण - 1979

61. हिन्दी के प्रतीक नाटक और रंगमंच
डॉ. केदारनाथ सिंह
विद्या विहार, 106/154
गाँधी नगर, कानपुर - 208 012
प्रथम संस्करण - 1985

62. हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंगयात्रा
सरजु प्रसाद मिश्र
प्रवीण प्रकाशन
महरौली, नई दिल्ली - 110 030
प्रथम संस्करण - 1979

63. हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक
डॉ. नरनारायण राय
भारती प्रकाशन
संस्करण - 1979

64. हिन्दी नाटक
बच्चन सिंह
साहित्य भवन प्र. लि.
इलाहाबाद

पत्रिका

1 आजकल - जुलाई - 1986
2. आजकल - मई - 1989
3. आलोचना - अप्रैल - जून - 1989
4. आलोचना - अप्रैल - मार्च - 2004
5. आलोचना - अप्रैल - सितंम्बर - 2004
6. कथादेश - मई - 2004
7. कथादेश - जून - 2005
8. गगनाञ्चल - मई - 1999
9. दस्तावेज़ - अप्रैल - मार्च - 1993
10. दस्तावेज़ - अप्रैल - जून - 1993
11. दस्तावेज़ - जुलाई - सितम्बर - 1993
12. दस्तावेज़ - जुलाई - 2001
13. दस्तावेज़ - जुलाई - सितम्बर - 2004
14. दस्तावेज़ - अक्तूबर - दिसम्बर - 1995
15. नया ज्ञानोदय - नवंम्बर - 2005
16. नया ज्ञानोदय - मार्च - 2005
17. वागर्थ - फरवरी - 1999
18. वागर्थ - जून - 2000
19. वागर्थ - सितम्बर - 2001
20. वागर्थ - अगस्त - 2003
21. वर्तमान साहित्य - नवंबर - 2005
22. साहित्य अमृत - जुलाई - 2004
23. साहित्य अमृत - जून - 2005

24. साहित्य अमृत - फरवरी - 2006
25. संग्रथन - जुलाई - 2005
26. साक्षात्कार - जुलाई - अगस्त - 1996
27. साक्षात्कार - मार्च - 2001
28. साक्षात्कार - अप्रैल - 2005
29. साक्षात्कार - मई - 2005
30. साक्षात्कार - दिसम्बर - 2005
31. हंस - जनवरी-फरवरी - 2000
32. हंस - जनवरी - 2002
33. हंस - नवंम्बर - 2003
34. हंस - अगस्त - 2005

अन्य ग्रन्थ

Illusion and Reality - Christopher Caudwell, Peoples Publishers House, New Delhi - 1956

कोश ग्रन्थ

Oxford English Dictionary - Vol. II William Little, H.W. Flower, J. Culson

Websters New World Dictionary of the American Language - Vol. II, The World Publishing Company

मानक हिन्दी कोश - रामचन्द्र वर्मा (सं) प्रथम खण्ड

हिन्दी शब्द सागर - श्यामसुन्दर दास नागरी प्रचारणी सभा, वारणासी